विवेक ज्योति

वर्ष ४३ अंक १
जनवरी २००५
मूल्य रु. ६.००

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ.ग.)
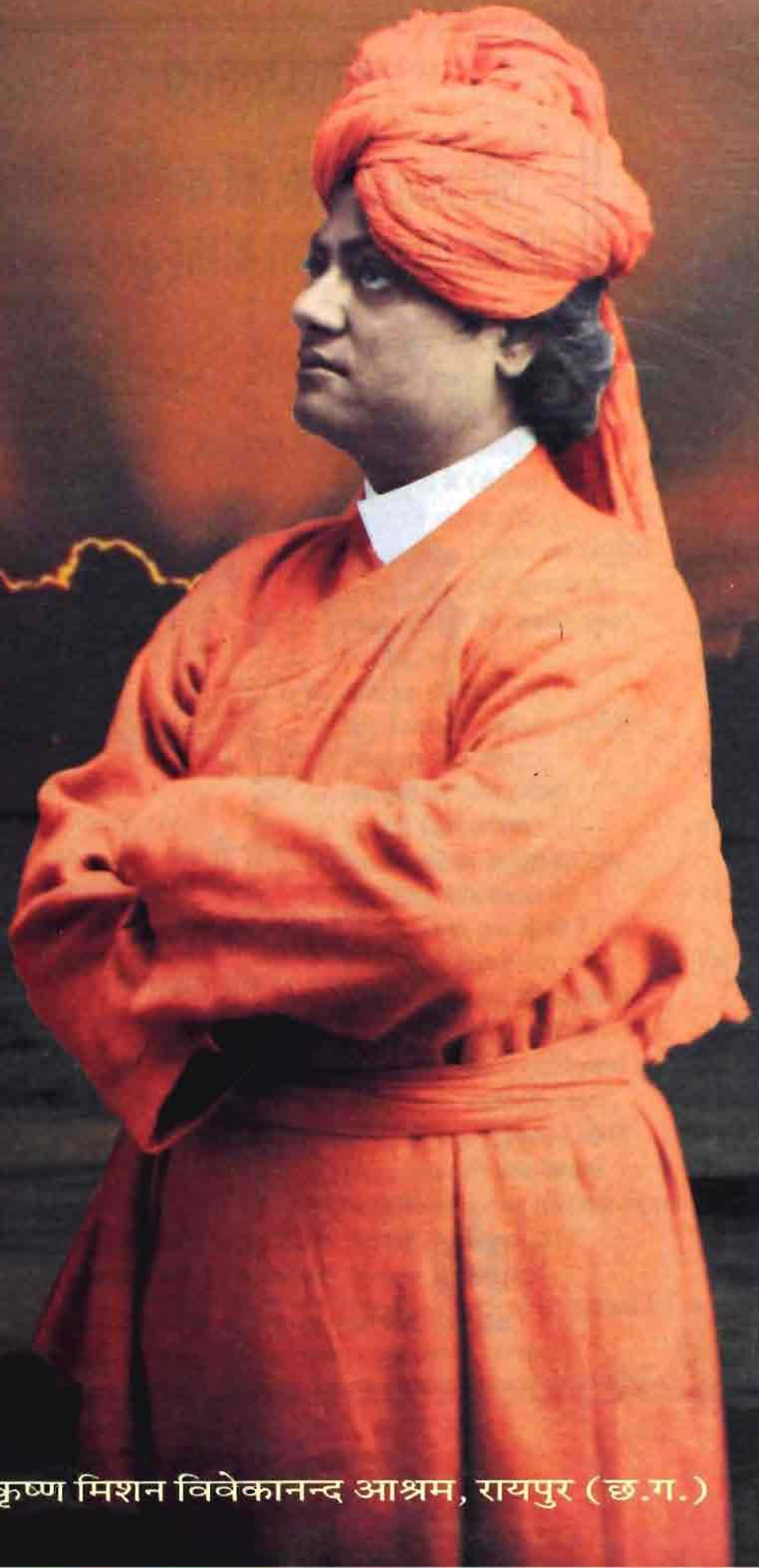
मंगल कामना

॥ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुखःभाग्भवेत्॥ ॥
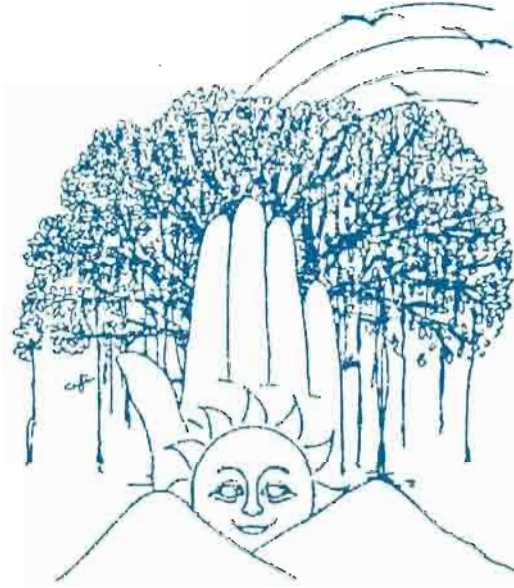
सब सुखी हों।

सब रोगरहित हों।

सब कल्याण का साक्षात्कार करें।

दुःख का अंश किसी को भी प्राप्त न हो।

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जनवरी २००५

प्रबन्ध-सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४३
अंक १

वार्षिक ५०/- एक प्रति ६/-

५ वर्षों के लिए — रु. २२५/-

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) — रु. १,०००/-

विदेशों में – वार्षिक १५ डॉलर, आजीवन – २०० डॉलर (हवाई डाक से) १०० डॉलर (समुद्री डाक से)

(सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन, रायपुर' छत्तीसगढ़ - के नाम से ही बनवायें)

रामकृष्ण मिशन

विवेकानन्द आश्रम

रायपुर – ४९२ ००१ (छ.ग.)

दूरभाष: २२२५२६९, ५०३६९५९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

१. वैराग्य-शतकम् (भर्तृहरि) ३
२. विवेकानन्द-वन्दना ('विदेह') ४
३. शिक्षा का आदर्श - १ (शिक्षा के मूलतत्त्व) (स्वामी विवेकानन्द) ५
४. भरत-जन्म का उद्देश्य (१/१) (पं. रामकिंकर उपाध्याय) ९
५. हिन्दू-धर्म की रूपरेखा (७) (स्वामी निर्वेदानन्द) १३
६. तुझे देखता मैं (कविता) (नारायण दास बरसैंया) १५
७. चिन्तन-१०७ (जीवन का समुचित उपयोग) (स्वामी आत्मानन्द) १६
८. आत्माराम की आत्मकथा (१०) (स्वामी जपानन्द) १७
९. गीता का जीवन-दर्शन (१) दैवी सम्पदाएँ - भूमिका (पूर्वार्ध) (भैरवदत्त उपाध्याय) २१
१०. संन्यासी का गीत (गीत) (स्वामी विवेकानन्द) २४
११. मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प (डॉ. शरत् चन्द्र पेंढारकर) २६
१२. आप भी महान् बन सकते हैं (१) (स्वामी सत्यरूपानन्द) २७
१३. स्वामी विवेकानन्द की स्मृतिकथा (भगिनी देवमाता, अमेरिका) २९
१४. विवेकानन्द-प्रणति (रवीन्द्रनाथ गुरु) ३३
१५. माँ की मधुर स्मृतियाँ - १४ श्रीमाँ की यादें (इन्दुबाला घोष) ३४
१६. श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ ३८
१७. स्वामी विवेकानन्द का राजस्थान-प्रवास (स्वामी विदेहात्मानन्द) ४०
१८. समाचार और सूचनाएँ (स्वामी कल्याणदेव जी का महाप्रयाण) ४४

मुद्रक : संयोग आफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

विवेक-ज्योति के प्रचार हेतु अनुरोध

प्रिय मित्र,

युगावतार श्रीरामकृष्ण तथा आचार्य स्वामी विवेकानन्द के आविर्भाव से विश्व-इतिहास के एक अभिनव युग का सूत्रपात हुआ है। इसके फलस्वरूप पिछली एक शताब्दी के दौरान भारतीय जन-जीवन की प्रत्येक विधा में एक नव-जीवन का संचार हुआ दीख पड़ता है। राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, ईसा, मुहम्मद, शंकराचार्य, चैतन्य, नानक तथा रामकृष्ण-विवेकानन्द - आदि कालजयी विभूतियों के जीवन तथा कार्य अल्पकालिक होते हुए भी, प्रभाव की दृष्टि से चिरस्थायी होते हैं और सहस्रों वर्षों तक कोटि-कोटि लोगों की आस्था, श्रद्धा तथा प्रेरणा के केन्द्र-बिन्दु बनकर विश्व का असीम कल्याण साधित करते हैं। सम्भवतः आपका ध्यान इस ओर गया हो कि उपरोक्त दो विभूतियों से निःसृत भावधारा दिन-पर-दिन उत्तरोत्तर व्यापक होती हुई, न केवल पूरे भारतवर्ष, अपितु सम्पूर्ण विश्ववासियों के बीच पारस्परिक सद्भाव को अनुप्राणित कर रही है।

भारत की सनातन वैदिक परम्परा, मध्यकालीन हिन्दू संस्कृति तथा श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द के सर्वग्राही तथा उदार सन्देश का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त स्वामीजी के जन्मशताब्दी वर्ष १९६३ ई. से इस पत्रिका को त्रैमासिक रूप में आरम्भ किया गया था। तब से ३६ वर्षों की सुदीर्घ अवधि तक उसी रूप में और पिछले ६ वर्षों से मासिक के रूप में अबाध गति से प्रज्वलित रहकर यह 'ज्योति' भारत के कोने-कोने में बिखरे अपने सहस्रों प्रेमियों का हृदय आलोकित करती रही है।

आज के संक्रमण-काल में, जब असहिष्णुता तथा कट्टरतावाद की आसुरी शक्तियाँ सुरसा के समान अपने मुख फैलाए पूरी विश्व-सभ्यता को निगल जाने के लिए आतुर हैं, इस 'युगधर्म' के प्रचार रूपी पुण्यकार्य में सहयोगी होकर इसे घर-घर पहुँचाने में क्या आप भी हमारा हाथ नहीं बटायेंगे? आपसे हमारा हार्दिक अनुरोध है कि कम-से-कम पाँच नये सदस्यों को 'विवेक-ज्योति' परिवार में सम्मिलित कराने का संकल्प आप अवश्य लें। इसका वार्षिक शुल्क अत्यल्प - मात्र रु. ५०/- ; ५ वर्षों के लिए रु. २२५/- और आजीवन (२५ वर्षों के लिए) रु. १०००/- मात्र है। अपने मित्रों, परिचितों, प्रियजनों तथा सम्बन्धियों से इस वर्ष के लिए सदस्यता-शुल्क एकत्र करके या अपनी ओर से उपहार के रूप में उनके पतों के साथ हमें अवश्य भेज दें।

— व्यवस्थापक, 'विवेक-ज्योति' मासिक
रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर - ४९२ ००१ (छ.ग.)

प्रकाशन विषयक विवरण

(फार्म ४ नियम ८ के अनुसार)

१. प्रकाशन का स्थान - रायपुर
२. प्रकाशन की नियतकालिकता - मासिक
३-४. मुद्रक एवं प्रकाशक - स्वामी सत्यरूपानन्द
५. सम्पादक - स्वामी विदेहात्मानन्द
राष्ट्रीयता - भारतीय
पता - रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर
स्वत्वाधिकारी - रामकृष्ण मिशन, बेलूड़ मठ के ट्रस्टीगण -

स्वामी रंगनाथानन्द, स्वामी गहनानन्द, स्वामी आत्मस्थानन्द, स्वामी स्मरणानन्द, स्वामी भजनानन्द, स्वामी सुहितानन्द, स्वामी प्रमेयानन्द, स्वामी श्रीकरानन्द, स्वामी शिवमयानन्द, स्वामी वन्दनानन्द, स्वामी गीतानन्द, स्वामी प्रभानन्द, स्वामी गौतमानन्द, स्वामी मुमुक्षानन्द, स्वामी वागीशानन्द, स्वामी तत्त्वबोधानन्द, स्वामी आत्मारामानन्द।

मैं स्वामी सत्यरूपानन्द घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गये विवरण मेरी जानकारी और विश्वास के अनुसार सत्य हैं।

(हस्ताक्षर)
स्वामी सत्यरूपानन्द

सदस्यता के नियम

(१) पत्रिका के नये सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। यदि किसी पिछले अंक से बनना हो, तो सूचित करें।

(२) अपना नाम तथा पिनकोड सहित पूरा पता स्पष्ट रूप से लिखें। नये सदस्य हों, तो लिखें — 'नया सदस्य'।

(३) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें।

(४) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें। उसके बाद अंक रहने पर ही पुनः प्रेषित किया जायेगा।

(५) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ५/- रुपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है। यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अतः इसे हमें न भेजें।

(६) सदस्यता-शुल्क की राशि का बैंक-ड्राफ्ट 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम से ही बनवायें।

(७) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें।

वर्ष ४३ जनवरी २००५ अंक १

वैराग्य-शतकम्

दीना दीनमुखैः सदैव शिशुकैराकृष्ट-जीर्णाम्बरा
क्रोशद्भिः क्षुधितैर्निरन्न-विधुरा दृश्या न चेद् गेहिनी ।
याच्ञा-भङ्ग-भयेन गद्गद-गलत्-त्रुट्यद्विलीनाक्षरं
को देहीति वदेत् स्वदग्ध-जठरस्यार्थे मनस्वी पुमान् ॥२१॥

अन्वय – दीन-मुखैः क्षुधितैः क्रोशद्भिः शिशुकैः सदा-एव आकृष्ट-जीर्ण-अम्बरा दीना निरन्न-विधुरा गेहिनी चेद् दृश्या न, कः मनस्वी पुमान् याच्ञा-भङ्ग-भयेन गद्गद-गलत्-त्रुट्यत्-विलीन-अक्षरं – 'देहि' इति स्व-दग्ध-जठरस्य अर्थे वदेत् ॥

भावार्थ – भूख से पीड़ित, दीन मुखवाले बच्चों के द्वारा सदा जिसका जीर्ण-शीर्ण वस्त्र खींचा जा रहा हो; निर्धन, अन्नरहित घर में यदि अत्यन्त दुखी घरवाली न दीख पड़े; तो फिर कौन-सा स्वाभिमानी धीर पुरुष, अपनी याचना के अस्वीकृत हो जाने के भय के कारण अवरुद्ध गले के साथ, अस्पष्ट स्वर में 'दीजिए' शब्द का उच्चारण करेगा !

अभिमत-महामान-ग्रन्थि-प्रभेद-पटीयसी
गुरुतर-गुण-ग्रामाम्भोज-स्फुटोज्ज्वल-चन्द्रिका ।
विपुल-विलसल्लज्जा-वल्ली-वितान-कुठारिका
जठर-पिठरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनम् ॥२२॥

अन्वय – अभिमत-महा-मान-ग्रन्थि-प्रभेद-पटीयसी गुरुतर-गुण-ग्राम-अम्भोज-स्फुट-उज्ज्वल-चन्द्रिका, विपुल-विलसत्-लज्जा-वल्ली-वितान-कुठारिका दुष्पूरा इयं जठर-पिठरी विडम्बनम् करोति ॥

भावार्थ – उदरपूर्ति के लिए याचना स्वाभिमानी लोगों के परमप्रिय आत्मसम्मान का नाश करती है । चन्द्रमा के आलोक में कमल के समान ही इससे हमारे सद्गुण संकुचित हो जाते हैं । हमारी लज्जा-संकोच रूपी हरी-भरी लता को कुल्हाड़ी के समान उन्मूलित कर डालनेवाला दुष्पूरणीय पेट-रूपी यह पात्र ही समस्त विडम्बनाओं का कारण है ।

– भर्तृहरि

विवेकानन्द-वन्दना

– १ –

(राग – यमन, ताल – कहरवा)

अग्निमन्त्र में दीक्षित करने, स्वामी आए हैं आज ।
सुनकर उनका गुरु-आवाहन, जाग उठा है तरुण-समाज ।।

दो दिन की दुनिया असार है, धर्म-त्याग-अनुभूति सार है ।
यही तत्त्व जग को सिखलाने, देश हमारा रहा विराज ।।

'उठो जगो' का मंत्र सुनाकर, अभीः अभीः श्रुतियों से गाकर ।
स्वामीजी हैं तुम्हें बुलाते, लग जाओ भारत के काज ।।

नर-रूपी नारायण पूजा, इससे बढ़कर धर्म न दूजा ।
दुनिया को सन्देश दिया फिर, अन्तर्धान हुए महराज ।।

– २ –

(राग – जैजैवन्ती या पीलू, ताल – कहरवा)

जयतु विवेकानन्द स्वामी।
ध्यान-परायण नर-नारायण, कृपा करो हे अन्तर्यामी।।

सच्चित्सुख स्वरूप के ज्ञाता,
उपनिषदों के गुरु-व्याख्याता।
निर्विकल्प उत्तुंग शिखर से, उतरे जग में जन-हित-कामी।।

मायाधीश चित्त अति निर्मल,
तन-मन में अपूर्व मेधा-बल।
युगाचार्य तरुणों के नायक, अन्धकार-जड़ता-संग्रामी।।

जन-जन में ईश्वर के द्रष्टा,
नवभारत के अप्रतिम स्रष्टा।
त्रिभुवन-तारक जन-उद्धारक, ऋषि-दर्शित पुराण-पथगामी।।

चरणों में दो निष्ठा अविचल,
मिटें चित्त से काम-क्रोध-छल।
चिर-'विदेह' सन्मार्ग-पदर्शक,
दूर करो सब भव-दुख-खामी।।

– *विदेह*

शिक्षा के मूल-तत्त्व

स्वामी विवेकानन्द

(शिक्षा विषय पर अनेक मूल्यवान विचार स्वामीजी के सम्पूर्ण साहित्य में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। उन्हीं का बँगला भाषा में एक संकलन 'शिक्षा-प्रसंग' नाम से प्रकाशित हुआ है, जो कई दृष्टियों से बड़ा उपयोगी प्रतीत होता है। शिक्षकों तथा छात्रों – दोनों को ही उससे उक्त विषय में काफी नयी जानकारी मिल सकती है, यहाँ पर हम 'शिक्षा का आदर्श' शीर्षक के साथ क्रमश: उसी का प्रकाशन कर रहे हैं। – सं.)

यूरोप के अधिकांश नगरों में घूमते हुए वहाँ के गरीबों के भी अमन-चैन और शिक्षा को देखकर मुझे अपने गरीब देश-वासियों की याद आती थी और मैं आँसू बहाता था। यह भेद क्यों हुआ? उत्तर मिला – शिक्षा से। शिक्षा और आत्मविश्वास से उनका अन्तर्निहित ब्रह्मभाव जाग गया है, जबकि हमारा ब्रह्मभाव क्रमश: निद्रित – संकुचित होता जा रहा है।[१]

शिक्षा का अर्थ – अन्तर का विकास

शिक्षा का अर्थ, उस पूर्णता की अभिव्यक्ति है, जो सभी मनुष्यों में पहले से ही विद्यमान है।[२] मानव के भीतर यदि ज्ञान तथा शक्ति का अनन्त स्रोत विद्यमान नहीं होता, तो हजारों प्रकार से प्रयास करके भी वह कभी ज्ञानी तथा शक्तिमान नहीं हो पाता। बाहरी पदार्थ तथा बाहरी उपाय उसके अन्तर में किसी भी प्रकार ज्ञान तथा शक्ति का प्रवेश नहीं करा सकते, बल्कि उस ज्ञान तथा शक्ति की अभिव्यक्ति में जो बाधाएँ हैं, केवल उन्हीं को दूर करने में सहायता भर कर सकते हैं। उन बाधाओं के दूर होने के साथ-ही-साथ उसके भीतर का अनन्त ज्ञान तथा असीम शक्ति हजारों ओर से प्रवाहित होकर उसे क्रमश: सर्वज्ञ तथा जगत्सृष्टि-कर्तृत्व के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की शक्तियों से भूषित कर डालती है। अत: उन बाधाओं को दूर करने के विशिष्ट उपयों को ही 'शिक्षा' कहा जाना चाहिए।[३]

चाहे क्षुद्र चींटी हो या स्वर्ग के देवता – हममें से प्रत्येक के भीतर अनन्त ज्ञान का स्रोत विद्यमान है।[४] ज्ञान स्वयं ही विद्यमान है, व्यक्ति उसका आविष्कार मात्र ही करता है।[५] यह ज्ञान मनुष्य में अन्तर्निहित है। **कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता, सब अन्दर ही है।** हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता' है, उसे ठीक-ठीक मनो-वैज्ञानिक भाषा में कहें, तो वह 'आविष्कार करता' है। मनुष्य जो भी सीखता है, वह वास्तव में 'आविष्कार करना' ही है। 'आविष्कार' का अर्थ है – मनुष्य का अपनी अनन्त ज्ञानस्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। हम कहते हैं – न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का आविष्कार किया। तो क्या वह आविष्कार कहीं कोने में बैठा हुआ न्यूटन की प्रतीक्षा कर रहा था? वह उसके मन में ही था। समय आया और उसने ढूँढ़ निकाला। संसार ने जो कुछ ज्ञान प्राप्त किया है, वह सब मन से निकला है।

विश्व का असीम ग्रन्थालय तुम्हारे मन में ही विद्यमान है। बाह्य जगत् तो तुम्हें अपने मन के अध्ययन में लगाने के लिए उद्दीपन तथा अवसर मात्र है; परन्तु सारे समय तुम्हारे अध्ययन का विषय तुम्हारा मन ही रहता है। सेब के गिरने ने न्यूटन को उद्दीपन प्रदान किया और उसने अपने मन का अध्ययन किया और अपने मन में पूर्व से स्थित विचार-शृंखला की कड़ियों को एक बार पुन: सँजोया और उनमें एक नयी कड़ी का आविष्कार किया। उसी को हम गुरुत्वाकर्षण का नियम कहते हैं। यह न तो सेब में था और न पृथ्वी के केन्द्र या किसी अन्य वस्तु में स्थित था।

अत: चाहे व्यावहरिक हो या पारमार्थिक – सारा ज्ञान मनुष्य के मन में ही निहित है। बहुधा यह प्रकट न होकर ढँका रहता है और जब धीरे-धीरे आवरण हटता जाता है, तो हम कहते हैं कि 'हमें ज्ञान हो रहा है'। ज्यों-ज्यों इस आविष्कार की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान में वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य पर से यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस मनुष्य पर यह आवरण तह-पर-तह पड़ा है, वह अज्ञानी है और जिस मनुष्य पर से यह आवरण पूरी तौर से चला जाता है, वह सर्वज्ञ व्यक्ति कहलाता है।

अतीत में कितने ही सर्वज्ञ हो चुके है और मेरा विश्वास है कि अब भी बहुत-से विद्यमान हैं तथा आगामी युगों में भी ऐसे असंख्य व्यक्ति जन्म लेंगे। जैसे एक चकमक पत्थर के टुकड़े में अग्नि निहित रहती है, वैसे ही मनुष्य के मन में ज्ञान रहता है। उद्दीपन – घर्षण की क्रिया द्वारा उसे प्रकट कर देता है।[६] तुममें से हर एक ने मोती अवश्य देखी होगी और तुममें से कुछ को यह भी ज्ञात होगा कि मोती कैसे बनती है। सीपी के भीतर धूल या बालू की कणिका पड़कर उसे उत्तेजित करती है और सीपी की देह इस उत्तेजना की प्रतिक्रिया करते हुए उस छोटे-से बालू के कण को अपनी
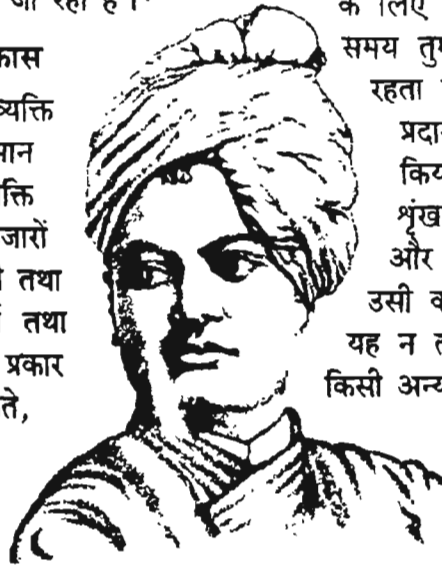
देह से निकले हुए रस से ढँकती रहती है। वही कणिका एक निर्दिष्ट आकार प्राप्त करके मोती में परिणत हो जाती है। जैसे मोती का निर्माण होता है, वैसे ही हम पूरे संसार को रूपायित करते हैं। बाह्य संसार से हम आघात भर पाते हैं। यहाँ तक कि उस आघात के प्रति चैतन्य होने में भी हमें अपने भीतर से ही प्रतिक्रिया करनी पड़ती है और जब हम प्रतिक्रियाशील होते हैं, तब वास्तव में हम अपने मन के अंश-विशेष को ही उस आघात के प्रति प्रक्षेपित करते है और जब हमें उसकी जानकारी होती है, तब वह और कुछ नहीं, उस आघात से आकार-प्राप्त हमारा अपना मन ही है।[७]

सभी ज्ञान तथा सभी शक्ति भीतर हैं, बाहर नहीं; जिसे हम प्रकृति कहते हैं, वह प्रतिबिम्बक दर्पण है – बस, प्रकृति का इतना प्रयोजन है – और सारा ज्ञान प्रकृति के इस दर्पण पर आन्तरिक परावर्तन या प्रतिबिम्ब मात्र है। जिन्हें हम शक्ति, प्रकृति के रहस्य और बल कहते हैं, सब भीतर ही विद्यमान हैं, बाह्य जगत् में परिवर्तन की शृंखला मात्र है। प्रकृति में कोई ज्ञान नहीं; मानव की आत्मा से ही सारा ज्ञान प्रकट होता है। मनुष्य अपने भीतर चिर काल से विद्यमान ज्ञान को व्यक्त करता है, उसका आविष्कार करता है।[८]

मैं बचपन से देखता आ रहा हूँ कि सभी लोग दुर्बलता की शिक्षा देते रहे हैं। जन्म से ही सुनता आया हूँ कि मैं दुर्बल हूँ। अब मुझे अपने भीतर निहित शक्ति का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो गया है, परन्तु विश्लेषण और विचार द्वारा अपनी शक्ति का ज्ञान होता है और फिर मैं उसे प्राप्त कर लेता हूँ। इस संसार में जितना भी ज्ञान है, वह कहाँ से आया? वह ज्ञान हमारे भीतर ही है। क्या बाहर कोई ज्ञान है? – नहीं। ज्ञान कभी जड़ में नहीं था, वह सदा मनुष्य के भीतर ही था। किसी ने कभी भी ज्ञान की सृष्टि नहीं की। मनुष्य उसको भीतर से बाहर लाता है। वह वहीं वर्तमान है। यह जो एक कोस तक फैला विशाल वटवृक्ष है, वह सरसों के बीज के अष्टमांश के समान उस छोटे-से बीज में ही था। उसी बीज में ऊर्जा की वह विपुल राशि सन्निहित थी। हम जानते हैं कि एक जीवाणु-कोष के भीतर अव्यक्त रूप में विराट् बुद्धि विद्यमान है; फिर अनन्त शक्ति उसमें क्यों न रह सकेगी? हम जानते हैं, यह सत्य है। ... हम लोगों के भीतर शक्ति पहले से ही निहित थी, अव्यक्त भाव से, पर थी अवश्य। इसी प्रकार मनुष्य को उसका ज्ञान हो या न हो, उसकी आत्मा के भीतर अनन्त शक्ति भरी पड़ी है। उसे बस जान लेने की ही आवश्यकता है।[९]

प्रत्येक विषय की व्याख्या आखिर तुम्हारे भीतर ही तो है। **वस्तुतः कभी कोई व्यक्ति किसी दूसरे को नहीं सिखाता। हममें से प्रत्येक को अपने आपको सिखाना होगा।** बाहर के शिक्षक तो केवल उद्दीपक मात्र हैं, जो हमारे अन्तःस्थ शिक्षक को सब विषयों का मर्म समझने के लिए उद्बोधित कर देते हैं। तब बहुत-सी बातें हमारी स्वयं की विचार शक्ति से स्पष्ट हो जाती हैं और उनका अनुभव हम अपनी ही आत्मा में करने लगते हैं; और यह अनुभूति ही हमारी प्रबल इच्छा-शक्ति में परिणत हो जाती है। पहले वह भावना होती है, और तब इच्छा।[१०]

इच्छा-शक्ति का विकास

हमारे देश के लोग शास्त्रीय नियमानुसार जन्म लेते हैं, तदनुसार ही खाते-पीते हैं और विवाह तथा तत्सम्बन्धी कार्य भी उसी प्रकार करते हैं, यहाँ तक कि शास्त्रों के नियमानुसार ही वे मरते भी हैं। एक विशेष गुण को छोड़कर यह कठिन नियमबद्धता दोषों से परिपूर्ण है। गुण यह है कि अति अल्प यत्न से व्यक्ति एक या दो काम अति उत्तम रीति से कर सकता है, क्योंकि कई पीढ़ियों से उस काम का उसे दैनिक अभ्यास होता है। इस देश के रसोइये तीन मिट्टी के ढेले और कुछ लकड़ियों की सहायता से जो स्वादिष्ट शाक और चावल तैयार कर सकते हैं, वह कहीं और नहीं मिल सकता। एक रुपये मूल्य के बहुत ही प्राचीन समय के करघे जैसे सरल यंत्र की सहायता से, गड्ढे में पैर रखकर २० रु. गज की मलमल बनाना केवल इसी देश में सम्भव है। एक फटा टाट और रेड़ी के तेल से जलनेवाला मिट्टी का दीया – इन्हीं की सहायता से केवल इसी देश में अद्भुत विद्वान् पैदा होते हैं। कुरूप और विकृत पत्नी के प्रति असीम सहनशीलता तथा दुष्ट और अयोग्य पति के प्रति आजन्म भक्ति – यह भी इसी देश में सम्भव है। यह तो हुआ उज्ज्वल पक्ष।

परन्तु यह काम वे लोग करते हैं, जिनका जीवन निर्जीव यंत्र के समान व्यतीत होता है; उनमें मानसिक क्रिया नहीं हैं, उनके हृदय का विकास नहीं होता, उनका जीवन स्पन्दनहीन है, उसमें आशा का प्रवाह बन्द है, उनमें इच्छाशक्ति की प्रबल उत्तेजना नहीं हैं, सुख का तीव्र अनुभव नही होता, न प्रचण्ड दुःख ही उनका स्पर्श करता है, उनकी प्रतिभाशाली बुद्धि में निर्माण-शक्ति कभी हलचल नहीं मचाती, नवीनता की कोई आभिलाषा नहीं है और न नयी वस्तुओं के प्रति आदर-भाव ही है। उनके हृदयाकाश के बादल कभी नहीं हटते, प्रातःकालीन सूर्य की छंवि कभी उनके मन को मुग्ध नहीं करती। उनके मन में यह कभी नहीं आता कि इससे अच्छी भी कोई अवस्था हो सकती है, यदि ऐसा विचार आता भी है, तो विश्वास नहीं होता है, विश्वास भी हो तो उद्योग नहीं हो पाता और उद्योग होने पर भी उत्साह का अभाव उसे मार देता है।[११]

यंत्रचालित अति-विशाल जहाज और महा-बलवान रेल का इंजन जड़ हैं, वे हिलते और चलते हैं, परन्तु जड़ है। और वह नन्हा-सा कीड़ा जो दूर से अपने जीवन की रक्षा के लिए

रेल की पटरी से हट गया, वह चैतन्य क्यों है? यंत्र में इच्छा-शक्ति का कोई विकास नहीं है। यंत्र कभी नियम का उल्लंघन करने की कोई इच्छा नहीं रखता। कीड़ा नियम का विरोध करना चाहता है और नियम के विरुद्ध जाता है, चाहे उस प्रयत्न में वह सफल हो या असफल; अत: वह चेतन है। जिस अंश में इच्छा-शक्ति के प्रकट होने में सफलता होती है, उसी अंश में सुख अधिक होता है और जीव उतना ही ऊँचा होता है। परमात्मा की इच्छा-शक्ति पूर्णरूप से सफल होती है, इसलिए वह उच्चतम है।[१२]

शिक्षा किसे कहते हैं? क्या वह पठन-मात्र है? नहीं, क्या वह नाना प्रकार का ज्ञानार्जन है? नहीं, यह भी नहीं। जिस संयम के द्वारा इच्छा-शक्ति का प्रवाह और विकास वश में लाया जाता है और वह फलदायक होता है, वह शिक्षा कहलाती है।[१३] इच्छा-शक्ति संसार में सर्वाधिक बलवती है। उसके सामने दुनिया की कोई चीज नहीं ठहर सकती; क्योंकि वह भगवान – साक्षात् भगवान से आती है। विशुद्ध और दृढ़ इच्छा-शक्ति सर्वशक्तिमान है।[१४] अधिकांश लोगों में वही आन्तरिक ईश्वरीय ज्योति आवृत्त तथा अस्पष्ट होकर रहती है, जैसे एक लोहे के पीपे के भीतर दीपक रखा रहता है, उस दीपक की थोड़ी-सी भी ज्योति बाहर नहीं आ पाती। पवित्रता एवं नि:स्वार्थता का थोड़ा-थोड़ा अभ्यास करते-करते हम इस आच्छादक माध्यम को पतला कर सकते हैं। अन्त में वह काँच के समान पारदर्शी हो जाता है।[१५]

हम दर्पण में अपना मुख देख पाते हैं – समुदय ज्ञान भी उसी प्रकार प्रतिबिम्बित वस्तु का ही ज्ञान है।[१६] भारत में ऐसा कोई भी सम्प्रदाय नहीं है, जो इस बात की शिक्षा देती हो कि हमें शक्ति, पवित्रता अथवा पूर्णता कहीं बाहर से प्राप्त होगी, वरन् सर्वत्र हमें यही शिक्षा मिलती है कि वे तो हमारे जन्मसिद्ध अधिकार हैं, हमारे लिए उनकी प्राप्ति स्वाभाविक है। अपवित्रता तो केवल एक बाह्य आवरण है, जिसके नीचे हमारा वास्तविक स्वरूप ढँक गया है; परन्तु जो सच्चा 'तुम' है, वह पहले से ही पूर्ण है, शक्तिशाली है। ... ईश्वर तथा मनुष्य में साधु तथा असाधु में भेद किस कारण होता है? – केवल अज्ञान से। बड़े-से-बड़े व्यक्ति तथा तुम्हारे पैर के नीचे रेंगनेवाले कीड़े में भेद क्या है? भेद होता है केवल अज्ञान से; क्योंकि उस छोटे से रेंगते हुए कीड़े में भी वही अनन्त शक्ति विद्यमान है, वही ज्ञान है, वही शुद्धता है, यहाँ तक कि साक्षात् अनन्त भगवान विद्यमान हैं। अन्तर यही है कि उसमें यह सब अव्यक्त रूप में है; जरूरत है इसी को व्यक्त करने की।[१७] हमारा साधारण ज्ञान भी, वह चाहे विद्या या अविद्या – किसी भी रूप से प्रकाशित क्यों न हो; उसी चित् या ज्ञानस्वरूप का प्रकाश है; **भेद प्रकारगत नहीं, अपितु परिमाणगत है**। नीचे धरती पर रेंगनेवाला क्षुद्र कीड़ा और स्वर्ग का श्रेष्ठतम देवता, इन दोनों के ज्ञान का भेद प्रकारगत नहीं परिणामगत है।[१८] हमारे पैरों तले रेंगते रहने वाले क्षुद्र कीट से लेकर महत्तम और उच्चतम साधु तक सब में वह अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता और सभी गुण अनन्त परिमाण में मौजूद हैं। भेद केवल अभिव्यक्ति की न्यूनाधिक मात्रा में है। कीट में उस महाशक्ति का थोड़ा ही विकास पाया जाता है, तुममें उससे भी अधिक और किसी दूसरे दोवोपम व्यक्ति में तुमसे भी कुछ अधिक शक्ति का विकास हुआ है; भेद बस इतना ही है, परन्तु है सभी में वही एक शक्ति। पतंजलि कहते हैं – **ततः क्षेत्रिकवत्** – "किसान जिस तरह अपने खेत में पानी भरता है।" (योगसूत्र, ४/३) किसी जलाशय से वह अपने खेत का एक कोना काटकर पानी भर रहा है और जल के वेग से खेद के बह जाने के भय से उसने नाली का मुँह बन्द कर रखा है। जब भी जरूरत पड़ती है, तब वह द्वार खोल देता है, पानी अपनी ही शक्ति से उसमें भर जाता है। पानी आने के वेग को बढ़ाने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि वह जलाशय के जल में पहले ही से विद्यमान है। वैसे ही हममें से हर एक के पीछे पहले से ही अनन्त शक्ति, अनन्त पवित्रता, अनन्त सत्ता, अनन्त वीरता, अनन्त आनन्द का भण्डार परिपूर्ण है, बस, केवल यह द्वार – यही देहरूपी द्वार हमारे वास्तविक रूप के पूर्ण विकास में बाधा पहुँचाता है। और इस देह का संगठन जितना ही उन्नत होता जाता है; तमोगुण जितना ही रजोगुण तथा सत्त्वगुण में परिणत होता है, यह शक्ति और शुद्धता भी उतनी ही अभिव्यक्त होती रहती है, और इसीलिए खान-पान के विषय में हम इतने सावधान रहते हैं।[१९]

शिक्षक का कर्तव्य

जैसे तुम पौधे को उगा नहीं सकते, वैसे ही तुम बच्चे को सिखा नहीं सकते। जो कुछ तुम कर सकते हो, वह केवल नकारात्मक पक्ष में है – तुम केवल सहायता दे सकते हो। वह तो एक आन्तरिक अभिव्यक्ति है; वह अपना स्वभाव स्वयं व्यक्त करता है – तुम केवल बाधाओं को दूर कर सकते हो।[२०] उदाहरणार्थ, मेरे बचपन में ही मेरे पिता ने मेरे हाथ में एक छोटी-सी पुस्तक दे दी और कहा – ईश्वर ऐसे हैं और यह चीज ऐसी है। मेरे मन में इन बातों को भर देने की उन्हें क्या जरूरत थी? उन्हें क्या मालूम कि मेरा विकास कैसे होगा? उन्हें विदित नहीं है कि मेरे स्वभाव का विकास कहाँ तक हुआ है, फिर भी वे अपने विचारों को मेरे दिमाग में घुसाना चाहते हैं। फल यह होता है कि मेरे मन का विकास रुक जाता है। तुम किसी पौधे को ऐसी जमीन में नहीं उगा सकते, जो उसके उपयुक्त न हो। जिस दिन आप लोग शून्य के ऊपर या प्रतिकूल स्थान में उगाने में सक्षम होंगे, उसी दिन आप एक बालक के स्वभाव पर ध्यान दिये

बिना ही बलपूर्वक उसे अपना भाव सिखा सकेंगे।[२१]

बालक अपने आप ही सीख लेता है। आप तो उसे उसी के मार्ग में आगे बढ़ने के लिए सहायता मात्र दे सकते हैं। आप उसके लिए जो कर सकते हैं, वह कोई विधेयात्मक नहीं, वरन् निषेधात्मक रूप में हो सकता है यानी आप उसके विघ्नों, मार्ग की कठिनाइयों को दूर कर सकते हैं, परन्तु ज्ञान तो उसके अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है। जमीन को थोड़ा नरम भर कर दो, ताकि अंकुर को निकलने में आसानी हो। उसके चारों और एक घेरा बना दीजिये, सावधानी रखिये कि कोई उसे नष्ट न कर डाले, पाला या बर्फ से उसका नाश न हो जाय। बस यहीं आपके कर्तव्य की इतिश्री हो जाती है। इससे अधिक और कुछ आप नहीं कर सकते। शेष सब तो उसकी प्रकृति के भीतर से ही अभिव्यक्त होता है। यही बात बालक की शिक्षा के विषय में भी है। **बालक स्वयं ही अपने को शिक्षा देता है**। तुम मेरी बातें सुनने आये हो। घर जाकर, तुमने जो यहाँ सीखा है और यहाँ आने के पूर्व तुम्हारे मन में जो था, उन दोनों का मिलान करो, तब तुमको पता चलेगा कि यही बात तो तुमने भी सोची थी; मैंने तो केवल उस बात को प्रकट मात्र किया है। मैं तुमको किसी बात की शिक्षा नहीं दे सकता। शिक्षा तो तुम स्वयं ही अपने को दोगे। मैं तो शायद तुमको तुम्हारे अपने उस विचार के प्रकट करने में सहायता मात्र कर सकता हूँ।[२२]

शिक्षा में स्वाधीनता

मेरे पिता को मेरे सिर में तरह-तरह की निरर्थक बातें भर देने का क्या अधिकार है? मेरे मालिक या समाज को मेरे सिर में ऐसी बातें भर देने का क्या अधिकार है? सम्भव है वे विचार अच्छे हों, पर मेरा मार्ग उनसे भिन्न हो सकता है। करोड़ों निर्बोध बालकों को शिक्षा के गलत तरीकों से बिगाड़ा जा रहा है। ... मनुष्य यह नहीं जानता कि उससे दूसरों का कितना अनिष्ट होता है। ... मनुष्य नहीं जानता कि प्रत्येक विचार या कार्य के पीछे कितनी प्रबल प्रसुप्त शक्ति है। 'जहाँ देवताओं को कदम रखने में डर लगता है, वहाँ मूर्ख लोग दौड़ पड़ते हैं' – यह उक्ति बहुत सच है। इस बात पर प्रारम्भ से ही ध्यान रखना चाहिए।[२३]

उन्नति के लिए पहली जरूरत है – स्वाधीनता की। पिता-माता के अनुपयुक्त शासन के कारण हमारे लड़के स्वाधीन रूप से बढ़ने की सुविधा नहीं पाते।[२४] सुधार की उग्र चेष्टा का फल यही होता कि उससे सुधार की गति रुक जाती है। किसी से ऐसा मत कहो कि 'तुम बुरे हो,' वरन् उससे यह कहो – 'तुम अच्छो हो, और भी अच्छे बनो।' ... यदि तुम किसी को सिंह नहीं होने दोगे, वह धूर्त लोमड़ी हो जायेगा।[२५] **किसी का हित कर सकने की धारणा त्याग दो**। जैसे पौधे के बढ़ने के लिए जल, मिट्टी, वायु, आदि पदार्थ एकत्र कर देने पर, पौधा अपने प्राकृतिक नियमानुसार स्वयं ही आवश्यक पदार्थों को ग्रहण कर लेता है और अपने स्वभाव के अनुसार बढ़ता जाता है, वैसे ही दूसरों की उन्नति के साधन एकत्र करके उनका हित करो।[२६] कोई किसी को सिखा नहीं सकता। 'मैं सिखा रहा हूँ' – सोचकर शिक्षक सब कुछ बरबाद कर देता है। वेदान्त कहता है कि मनुष्य के भीतर ही सब कुछ है। बालक के भीतर भी सब कुछ है। केवल उन्हें जगाना मात्र होगा – शिक्षक का बस इतना ही कार्य है।[२७]

कठोपनिषद् का वह महा-वाक्य याद आ रहा है – 'श्रद्धा' या अद्भुत विश्वास। नचिकेता के जीवन में 'श्रद्धा' का एक सुन्दर दृष्टान्त दिखायी देता है। **इस श्रद्धा का प्रचार करना ही मेरा जीवनोद्देश्य है**। मैं तुम लोगों से फिर एक बार कहना चाहता हूं कि यह श्रद्धा ही मानव जाति के जीवन का और संसार के सब धर्मों का महत्त्वपूर्ण अंग है। **सबसे पहले तुम अपने आप पर विश्वास करने का अभ्यास करो**।[२८] कभी भी स्वयं पर अविश्वास मत करो, तुम इस जगत् में सब कुछ कर सकते हो। कभी भी अपने को दुर्बल मत समझो, सभी शक्तियाँ तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं।[२९] अत: उठो, साहसी बनो, वीर बनो। **सब उत्तरदायित्व अपने कन्धे पर लो – याद रखो कि तुम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हो**। तुम जो कुछ बल या सहायता चाहो, सब तुम्हारे ही भीतर मौजूद है। अत: इस ज्ञानरूप शक्ति के सहारे तुम बल प्राप्त करो और अपने ही हाथों अपना भविष्य गढ़ डालो। **गतस्य शोचना नास्ति** – सारा भविष्य तुम्हारे सामने पड़ा हुआ है।[३०]

❖ (क्रमश:) ❖

सन्दर्भ-सूची –

१. विवेकानन्द साहित्य, (संस्करण १९८९) खण्ड ६, पृ. ३११; **२**. वही, खण्ड २, पृ. ३२८; **३**. उद्बोधन, वर्ष १९, पृ. ६३७; **४**. वही, खण्ड ७, पृ. २८; **५**. वही, खण्ड ७, पृ. ९३; **६**. वही, खण्ड ३, पृ. ३-४; **७**. वही, खण्ड ५, पृ. २९४; **८**. वही, खण्ड ९, पृ. ९९-१००; **९**. वही, खण्ड ८, पृ. ४७; **१०**. वही, खण्ड ३, पृ. ६७; **११**. वही, खण्ड ७, पृ. ३५७-५८; **१२**. वही, खण्ड ७, पृ. ३५८-५९; **१३**. वही, खण्ड ७, पृ. ३५९; **१४**. वही, खण्ड ५, पृ. ११८-१९; **१५**. वही, खण्ड ७, पृ. २९; **१६**. वही, खण्ड ७, पृ. २९; **१७**. वही, खण्ड ५, पृ. ५६-५७; **१८**. वही, खण्ड २, पृ. १८२; **१९**. वही, खण्ड ५, पृ. २९८; **२०**. वही, खण्ड १०, पृ. २१४; **२१**. वही, खण्ड ९, पृ. ५४-५५; **२२**. वही, खण्ड ९, पृ. ५५; **२३**. वही, खण्ड ९, पृ. ५५-५६; **२४**. भारत में विवेकानन्द (बंगला), १३वाँ सं., पृ. २४३; **२५**. वही, खण्ड ७, पृ. ३०; **२६**. वही, खण्ड ५, पृ. १४२; **२७**. उद्बोधन, वर्ष ७, पृ. २६२; **२८**. वही, खण्ड ५, पृ. ३३४; **२९**. वही, खण्ड ७, पृ. १०१; **३०**. वही, खण्ड २, पृ. १२०-२१।

भरत-जन्म का उद्देश्य (१/१)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(पण्डितजी ने कोलकाता के संगीत-कला मन्दिर ट्रस्ट द्वारा आयोजित व्याख्यान-माला में 'भरत-चरित्र' पर कुछ प्रवचन दिये थे। प्रस्तुत लेख उनके पहले प्रवचन का पूर्वार्ध है। टेप से इसे लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने किया है। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ हमें यह अयोध्या के 'श्री रामायणम् ट्रस्ट' के सौजन्य से प्राप्त हुआ है, जिसके लिए हम उनके आभारी हैं। – सं.)

जौ न होत जग जनम भरत को ।
सकल धरम धुरि धरनि धरत को ।। २/२३३/१

– यदि भरतजी का जन्म न हुआ होता, तो सभी धर्मों की धुरा को कौन धारण करता?

'मानस' में अनेक उत्कृष्ट पात्र हैं। और उनमें से कुछ तो ऐसे हैं कि जिनके विषय में यह कहना कि कौन बड़ा है और कौन छोटा – यह अपराध-सा जान पड़ता है। परन्तु यह बात तो असन्दिग्ध रूप से कही जा सकती है कि भरतजी के सन्दर्भ में गोस्वामीजी बार-बार जिस बात का स्मरण दिलाते हैं, वह शब्द है – 'को' अर्थात् कौन? शायद ही यह शब्द उन्होंने किसी दूसरे के लिए इतनी बार कहा हो।

कभी-कभी लगता है कि अमुक व्यक्ति यदि न होता तो क्या होता! साधारणतया नियम तो यही है कि संसार-चक्र तो चलता ही रहता है और किसी व्यक्ति के होने या न होने का विशेष महत्त्व नहीं है, परन्तु इतना होते हुए भी और विशेष रूप से एक महान् सन्त, एक महान् भक्त और उस युग के अनेक पात्रों ने यह प्रश्न सामने रखा कि यदि भरतजी का जन्म न हुआ होता तो? यह बात कई बार भरतजी के प्रसंग को लेकर दुहराई गई। और यह पंक्ति भगवान शंकर के लिए तो एक बार पढ़ने को मिलती है। पर अन्य कोई ऐसा पात्र नहीं है कि जिसके लिए बार-बार यह प्रश्न उठाया गया हो कि यदि श्री अमुक न होते, तो क्या होता? तो यह जो पंक्ति पढ़ी गई है, उसमें भी वही चुनौती-भरा एक प्रश्न है – यदि भरतजी का जन्म न हुआ होता, तो सभी धर्मों की धुरा को कौन धारण करता? मानो उसका अभिप्राय है कि ऐसा प्रतीत होता है कि सारे विश्व के इतिहास में भले ही एक-से-एक बढ़कर महापुरुष हुए हैं, परन्तु **धर्म के समग्र स्वरूप को यदि किसी व्यक्ति ने अपने चरित्र के माध्यम से व्यक्त किया है, तो वे एकमात्र भरतजी ही हैं।**

परन्तु ध्यान रहे कि यह केवल धर्म के सन्दर्भ में नहीं है। अयोध्या-काण्ड में आप देखेंगे कि यही शब्द बार-बार दुहराया जाता है – कभी भगवान श्रीराम, कभी देवता, कभी मुनि, तो कभी गोस्वामीजी द्वारा। प्रसंग आता है, श्रीराम के शरीर में कुछ सुमंगल-सकुन हो रहे हैं। सीताजी को भी इसी प्रकार से सकुन की अनुभूति हो रही है और दोनों में चर्चा होने लगी – इस सकुन का फल क्या है? भरत ननिहाल में थे। श्रीराम बोले – लगता है कि भरत आने वाले हैं –

भरत आगमनु सूचक अहहीं ।।

वैसे तो श्रीराम को राज्य मिलने की घोषणा होनेवाली थी। यदि वे राज्य को बहुत महत्त्व की वस्तु मानते, तो सोच सकते थे कि शायद कोई ऊँचा पद मिलने वाला है। संसार में लोग इस तरह के सकुन का फल इसी रूप में देखते हैं कि कोई समृद्धि, कोई उन्नति, कोई पद मिलनेवाला है। पर श्रीराम कहते हैं – भरत से मिले हुए तो बहुत दिन हो गये, इसलिए यह सकुन कहता है कि किसी प्रिय से मिलन होगा –

भये बहुत दिन अति अवसेरी ।
सगुन प्रतीत भेंट प्रिय केरी ।।

वैसे सकुन-शास्त्र में बताया गया है कि कौन-सा सकुन हो, तो क्या फल होता है। तो श्रीराम और सीताजी दोनों को यह लगा कि यह जो सकुन है, वह बता रहा है कि किसी प्रिय से मिलन होगा। कोई श्रीराम से पूछ सकता है कि आपके प्रिय तो अनेक लोग हैं, तो फिर आप ऐसा क्यों मान रहे हैं कि भरत का आगमन होनेवाला है। तो फिर वही 'को' शब्द आ गया। वही 'को' शब्द श्रीराम के मुख से निकला। वे बोले – हाँ, भाई तो सब प्रिय हो सकते हैं, पर यह एक निश्चित सत्य है कि भरत के समान प्रिय कोई भी नहीं है –

भरत सरिस प्रिय को जग माहीं ।
इहइ सगुन फल दूसर नाहीं ।।

जब श्रीराम 'को' अक्षर का प्रयोग करते हैं, तो यह एक स्पष्ट स्वीकृति है कि वह व्यक्ति भरतजी ही हो सकते हैं, जिनके आने के समाचार से प्रभु को लगे कि बहुत बड़ा लाभ होनेवाला है। **वे भरत से मिलन के लाभ से बढ़कर किसी अन्य लाभ की कल्पना ही नहीं कर सकते।** यह दर्शाता है कि श्रीराम के मन में भरतजी के प्रति कितनी आस्था, प्रीति तथा समादर है। और सच तो यह है कि जब भगवान ने यह शब्द कहा, तो सुननेवालों को लगा कि यह बात तो कुछ समझ में आनेवाली नहीं है। क्यों? आप देखेंगे कि 'मानस' में प्रभु के जो नित्य सहचर हैं, साथी हैं, वे लक्ष्मण जी हैं,

जो कभी भी एक क्षण के लिए भी उनसे अलग होने की कल्पना नहीं कर सकते – चाहे वह खेल हो, चाहे वह युद्ध-स्थल हो, या वह पुष्प-वाटिका हो जहाँ शृंगार की लीला चल रही है – लक्ष्मण जी तो निरन्तर, हर परिस्थिति में, हर क्षण प्रभु के साथ हैं।

और भरतजी? खेल में भी ऐसा दिखाई देता है कि वे प्रभु के प्रतिपक्षी दल के नायक हैं। महर्षि विश्वामित्र श्रीराम को लेने आए और बोले – भाई के साथ राम को दीजिए –

अनुज समेत देहु रघुनाथा ।।

तो उस भाई शब्द पर पहला अधिकार तो भरतजी का ही था। वैसे अनुज तो लक्ष्मण जी भी हैं, पर श्रीराम के बाद भरतजी ही हैं। अब ऐसी स्थिति में भरतजी यह आग्रह कर सकते थे कि मैं अनुज हूँ और मुझे ही यह सेवा का सौभाग्य मिलना चाहिए। परन्तु उस अवसर पर भी लक्ष्मण ही प्रभु के साथ जाते हैं। भरतजी ने तो एक बार भी आग्रह तो क्या संकेत भी नहीं किया कि मैं आपके साथ चलना चाहता हूँ।

तो यह कुछ विचित्र-सा लगता है कि श्रीराम कहते हैं कि भरत के समान दूसरा मुझे कोई प्रिय है ही नहीं और जब अवसर आता है तब लक्ष्मण ही साथ जाते दिखाई देते हैं और सच तो यह है कि भरतजी का जो यह अनाग्रह था, प्रभु से कभी भी उन्होंने एक बार भी, कोई वाक्य नहीं कहा। बस एक बार चित्रकूट में कहा था और बड़े भाव भरे स्वर में कहा था – मैंने आपके सौन्दर्य की प्रशंसा तो बहुत सुनी है, ...। उस समय सुननेवाले चकित हो गये थे। तो भी वे प्रभु के साथ ही तो खेलते हैं, लक्ष्मण जी के जितना तो नहीं, तो भी बहुत साथ रहते हैं। तो भरतजी बोले – आज तक मैंने कभी प्रभु के सामने कोई वाक्य नहीं कहा –

महूँ एहे सकोच बस सनमुख कही न बैन ।

इसका अर्थ क्या हुआ? वाक्य कहने के लिए जिससे आप बोलेंगे उसकी ओर तो आपको देखना पड़ेगा। और उसका परिणाम यह हुआ कि भरतजी कहते हैं – प्रभो, संसार के लोग आपके सौन्दर्य का अमृत पीकर तृप्त होते होंगे, पर भरत के नेत्र तो सदा प्यासे ही रहते हैं –

दरसन तृपित न आजु लगि प्रेम पियासे नैन ।।

अब आप कल्पना कीजिए कि जो इतना संकोची हो, जो कभी दृष्टि मिलाता ही न हो, प्रभु से बोलता ही न हो और जब मौका आता है तो ऐसा लगता है कि श्रीराम तो लक्ष्मण को छोड़कर जा ही नहीं सकते – मानो श्रीराम से अलग रह पाना लक्ष्मण के लिए असम्भव हो।

लोगों के मन-मस्तिष्क में यही धारणा थी कि भरतजी तो वैसे बड़े चरित्रवान हैं, बड़े सद्गुण-सम्पन्न हैं, पर लक्ष्मण जी जैसा प्रेम तो उनका नहीं है, क्योंकि गोस्वामी जी लिखते हैं – जिस समय धनुर्भंग का समाचार लेकर जनकपुर से दूत आये और वे महाराज दशरथ से वार्तालाप कर रहे थे। भरतजी को समाचार मिला की जनकपुर से दूत पत्र लेकर आए हुए हैं। गोस्वामी जी से पूछा गया – भरत कहाँ थे? तो उन्होंने बड़ा अद्‌भुत वाक्य कहा – भरत खेल रहे थे –

खेलत रहे तहाँ सुधि पाई ।
आये भरत सहित हित भाई ।

यह तो कोई बड़ा गम्भीर कार्य नहीं है। कल्पना कर सकते थे कि भरत माला लेकर जप कर रहे होंगे, श्रीराम के इतने भक्त हैं तो श्रीराम का ध्यान कर रहे होंगे। पर गोस्वामी जी बोले – भरतजी खेल रहे थे। पिताजी के पास आ तो गये, पर स्वभाव के बड़े संकोची हैं, तो भी साहस करके पूछा – पिताजी, कहाँ से पत्र आया है –

पूछत अति सनेह सकुचाई ।
तात कहाँ ते पाती आई ।।

और गद्‌गद कण्ठ से कहने लगे – हमारे प्राणप्रिय बन्धु किस देश में हैं –

कुशल प्राणप्रिय बन्धु दोउ
अहहिं कहहु केहि देस ।

दशरथ जी उस पत्र को पूरा सुना देते हैं। तब भरतजी की जो दशा हुई – उनके शरीर में रोमांच, आँखों में आँसू, बड़े गद्‌गद, भाव-विह्वल हो गये –

सुनि सनेह साने बचन बाँची बहुरि नरेस ।
सुनि पाती पुलके दोउ भ्राता ।
अधिक सनेह समात न गाता ।।

देखनेवाले चकित हो गये, भरतजी की ऐसी स्थिति तो कभी देखी नहीं गयी थी। और संसार का भी तो एक नियम है – व्यक्ति की ईर्ष्या-वृत्ति इतनी प्रबल होती है कि कभी-कभी भाई-भाई में परस्पर ईर्ष्या हो जाती है। दीख पड़ता है कि एक भाई दूसरे भाई की उन्नति से प्रसन्न नहीं हो पाता।

भरतजी ने भी सुना कि श्रीराम और लक्ष्मण विश्व-प्रसिद्ध हो गये हैं। श्रीराम ने इतने बड़े-बड़े कार्य किये। भगवान शंकर का धनुष तोड़ा, विश्व-विख्यात् हो गये। भरतजी क्षण भर के लिए सोच सकते थे कि अरे, मैं तो इस अवसर पर नहीं था, मुझे इससे वंचित रह जाना पड़ा। पर गोस्वामी जी कहते हैं कि भरतजी बड़े आनन्दित, बड़े विह्वल हो गये –

प्रीति पुनीत भरत कै देखी ।
सकल सभा सुख लहेउ बिसेखी ।।

पूरी सभा के लोग इस दृश्य को – भरतजी के इतने प्रेम, इतनी प्रसन्नता को देखकर सोचने लगे – हम लोग शायद भरतजी को नहीं पहचान पाये थे। सचमुच भरतजी के हृदय की प्रीति अनोखी ही है।

कभी-कभी जब मैं भरतजी और लक्ष्मण जी की तुलना करता हूँ तो यही पाता हूँ कि **लक्ष्मण जी का चरित्र यदि आकाश की तरह है, तो भरतजी का समुद्र की तरह।** आकाश में और समुद्र में यही अन्तर है कि आकाश में जो है वह प्रत्यक्ष दिखाई देता है, पर समुद्र में क्या है यह देखना सम्भव नहीं। लक्ष्मण जी का तो प्रत्येक भाव, प्रत्येक भंगिमा, प्रत्येक कार्य दिखाई देता है; श्रीराम-प्रेम के वे दिव्य साक्षात रूप हैं, उनका स्वभाव ही दिव्य है। 'मानस' में बार-बार भरतजी की तुलना समुद्र से की गई है। कहा गया है –

प्रेम अमिय मंदर बिरह भरत पयोधि गंभीर।

गोस्वामी जी को केवल समुद्र कहकर सन्तोष नहीं हुआ, बोले – गम्भीर समुद्र हैं। पर वे श्रीराम को भी समुद्र कहते हैं और भरतजी को भी। उनसे पूछा गया – दोनों समुद्रों में अन्तर क्या है? वे बोले – समुद्र जैसे अगाध होता है वैसे ही अगाध श्रीराम हैं और वैसे ही अगाध भरतजी भी हैं। पर **श्रीराम समुद्र की तरह भी हैं और आकाश की तरह भी।** दोनों दृष्टियों से उनकी तुलना की गई है। पर वे एक बड़ी अद्भुत कविता करते हैं और वह कविता क्या है?

वर्णन आता है कि देवताओं और दैत्यों ने मिलकर अमृत पाने के लिए समुद्र का मन्थन किया, पर गोस्वामी जी जब बोले कि राम-समुद्र ने भरत-समुद्र का मन्थन किया, तो लगा कि यह तो बड़ा विचित्र काव्य हुआ। क्या कोई समुद्र किसी समुद्र को मथता है? यह तो कोई बात नहीं हुई। देवता और दैत्य, सन्त या कोई और मन्थन करे। क्या और कोई मन्थन करने वाला नहीं था? पर सच बात तो यही है कि इस भरत-समुद्र को मन्थन करनेवाला इस राम-समुद्र को छोड़कर कोई था ही नहीं। उत्तर-काण्ड में समुद्र-मन्थन की बात कही गई, तो यही कहा गया कि वेद समुद्र है, मन्दराचल ज्ञान है, सन्त मन्थन करनेवाले हैं। पर गोस्वामी जी एक बहुत बड़ी बात कहना चाहते थे। उन्होंने कहा कि समुद्र ने समुद्र का मन्थन तो तभी किया होगा, जब इस समुद्र के पास वह वस्तु नहीं रही होगी, जो उस समुद्र के पास थी। अभाव से ही तो उन लोगों ने अमृत-मन्थन किया था और इसका अर्थ है कि श्रीराम कितने भी महान् समुद्र क्यों न हो, पर उन्हें लगा कि जो भरत-समुद्र के पास है वह मेरे पास नहीं है। तब उन्हें लगा कि यह मन्थन आवश्यक है। उसके बाद गोस्वामी जी ने एक शब्द जोड़ दिया – इतना गम्भीर समुद्र कि प्रभु समझ गये कि विश्व में मुझे छोड़कर कोई है ही नहीं, जो इस समुद्र की गहराई से अमृत पा सके –

मथ प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ।।

श्रीराम हैं कृपा-सिन्धु और भरत हैं प्रेम-सिन्धु। श्रीराम को लगा कि मैं चाहे जितनी बड़ी कृपा करूँ, भले ही कृपा का समुद्र होऊँ, पर कृपा का अनुभव संसार के लोगों को तब तक नहीं हो सकता, जब तक उनके हृदय में मेरे प्रति प्रेम न हो। और वह प्रेम मेरे पास तो है नहीं। अब प्रभु अपने आप से तो प्रेम नहीं करते। तो उन्होंने कहा कि वह प्रेम तो ऐसे समुद्र में है, वह भी इतना गहरा है कि मुझे ही बहुत प्रयत्न करके किसी तरह से इस समुद्र का मन्थन करना होगा, तब कहीं वह दिव्य प्रेम का अमृत प्राप्त होगा। तो भरतजी वह समुद्र हैं, जिससे राम-समुद्र ने प्रेमामृत लिया।

अब समुद्र में व्यक्ति डूब भी सकता है, पर गोस्वामी जी कहते हैं – आप देख लीजिए, सचमुच भरतजी इतने गम्भीर समुद्र हैं कि बड़े-बड़े विवेकी, बड़े-बड़े मन्थन-कर्ता, बड़े-बड़े व्यक्ति भी इस समुद्र को कभी मथ नहीं पाये और इसका प्रत्यक्ष प्रमाण भी मिलता है। जो व्यक्ति उनकी क्रिया - कलापों को देखता है, उसके मन में उल्टी धारणा आती है, सर्वत्र यही दिखाई दे रहा है – यदि भरतजी चित्रकूट प्रभु को मनाने जा रहे हैं तो श्रीराम के प्रिय सखा उनसे युद्ध के लिये तैयार हो जाते हैं। और वे तो यही कहते हैं – समझ गया, यदि इनके मन में कुटिलता न होती, तो साथ में इतनी सेना क्यों लाते! वे अवश्य ही दोनों भाइयों को मारकर सुखपूर्वक निष्कण्टक राज्य करना चाहते हैं –

जौं पै जियँ न होति कुटिलाई।
तौ कत लीन्ह संग कटकाई ।।
जानिहिं सानुज रामहि मारी।
करउँ अकंटक राजु सुखारी ।।

और तर्क संसार में तो लोग ढूँढ़ ही लेते हैं। केवट ने कहा – इसमें आश्चर्य ही क्या है! अरे, कैकेयी का ही तो बेटा है न! जैसी माँ वैसा बेटा! कोदो के पौधे से क्या कभी धान और क्या कभी घोंघे से मोती पैदा हो सकता है –

फरइ कि कोदो बालि सुसाली।
मुक्ता प्रसव कि सम्बुक काली।

इतना बड़ा भक्त, जिसे श्रीराम ने भी सखा कहकर पुकारा हो, वह भी भरत को नहीं समझ पाता। और उसकी बात तो जाने दीजिए। लक्ष्मण जी पर इसकी क्या प्रतिक्रिया हुई? चित्रकूट में वे बैठे हुए हैं और किसी ने आकर प्रभु से कहा – भरत आ रहे हैं। तब एक विचित्र दृश्य दिखाई पड़ा – पशु-पक्षी सब घबराये प्रभु के आश्रम में प्रविष्ट होने लगे –

खग मृग बिकल प्रभु भूरि भागे।

यह क्या हो रहा है? क्या बात है? पशु-पक्षी इस तरह आश्रम में क्यों आने लगे? तब फिर कोल-किरातों ने आकर कहा – भरत साथ में चतुरंगिणी सेना लेकर आ रहे हैं –

एक आइ अस कहा बहोरी।
सेन संग चतुरंग न थोरी ।।

प्रभु ने सुना, तो थोड़े गम्भीर हुए, चिन्तित लगने लगे। लक्ष्मण जी सोचने लगे – क्या हुआ? और वे भी भरतजी

को नहीं समझ सके। प्रभु ने ज्योंही पूछा – भरत चतुरंगिणी सेना लेकर आ रहे हैं? तो प्रत्येक व्यक्ति यही कल्पना कर सकता था कि सेना लेकर तो व्यक्ति युद्ध के लिये जाता है, किसी को मनाने के लिए कोई सेना लेकर गया हो, ऐसा तो विश्व के इतिहास में कभी सुना नहीं गया। मन्दिर में भी प्रणाम करने जाते हैं, तो अस्त्र-शस्त्र छोड़कर जाते हैं। कोई अस्त्र-शस्त्र लेकर इस प्रकार किसी को मनाने जा रहा हो, यह तो एक बिलकुल असंगत-सी बात हुई। और इसीलिए लक्ष्मण जी ने यह गणित लगाया।

'मानस' में एक बात कह दी गई है – भरत-चरित्र कहना संसार में सबसे अधिक सरल है। सरल क्यों है? सुनैना जी ने जब जनक जी से कहा कि आप भरत के विषय में कुछ कहिए। तो महाराज जनक ने यही कहा – सुनैना, मुझे किन -किन वस्तुओं का ज्ञान है – धर्म, राजनीति और वेदान्त –

धरम राजमय ब्रह्म बिचारु।
यहाँ जथमति मोर प्रचारु।।

सुनैना जी की श्रद्धा और बढ़ गई। बोलीं – तब तो भरत के विषय में आप और भी ठीक से बता सकेंगे, क्योंकि –

सो मति मोरि भरत महिमाहि।
कहहि काह छुवत न छाँहि।।

– मैं भरतजी का वर्णन नहीं कर सकता, भरत की छाया को छल से भी नहीं छू सकता। मेरी बुद्धि कभी भी भरत का स्पर्श भी नहीं कर सकती। – तो फिर मैं कहाँ जाऊँ। आप तो समर्थ हैं। – फिर सबका नाम गिनाना शुरू किया – बुधि गनपति – न गणपति कह सकते हैं, न सरस्वती कह सकती हैं, न ब्रह्मा कह सकते हैं। अब कोई वक्ता यदि कहे कि मैं नहीं कह सकता, तो यहाँ ठीक है, पर यदि वह संसार में सारे वक्ताओं का नाम गिना दे कि कोई नहीं कह सकता।

सुनैना जी ने कहा – क्यों, महाराज?

वे बोले – भरतजी को पूरी तरह से जानने वाला व्यक्ति संसार में कोई नहीं है। – क्या एक भी नहीं? – हाँ एक है। – कौन? – बस, एक राम। वे ही भरत को ठीक-ठीक जानते हैं। – क्यों महाराज, जब सारे वक्ता असमर्थ हैं, तो श्रीराम से ही मैं भरत के सम्बन्ध में कुछ सुनूँ। तो जनक जी ने कहा – ऐसी भूल मत करना। – क्यों? बोले –

भरत महा महिमामय रानी।
जानहि राम न सकहिं बखानी।।

वे भी नहीं कह सकते। तब तो बड़ा सरल हो गया। जब राम नहीं कह सकते, फिर तो कोई भी कह सकता है।

क्योंकि भरतजी प्रेम के गम्भीर समुद्र हैं और यही रहस्य है। ऐसी स्थिति में तो आनन्द-ही-आनन्द है। इसका अर्थ है कि चाहे कोई नन्हा पात्र हो, या कोई बड़ा पात्र हो, सब अपनी-अपनी उड़ान के अनुसार समुद्र में से जितना ले सकें, ले लें। समुद्र तो समुद्र ही है। तो भगवान राम ने जब सुना कि भरत सेना लेकर आ रहे हैं, तो चिन्तित होकर सोचने लगे –

भरतु सुभाव समुझि मन माहीं।
प्रभु चित हित थिति पावत नाहीं।।

भरत के स्वभाव को याद कर प्रभु समझ गये। भरत को तो केवल वे ही ठीक-ठीक जानते हैं। समझने में विलम्ब नहीं लगा। पर सोचने लगे। कोई व्यक्ति आपसे नित्य माँगे तो आप कुछ ही दिनों में ऊब जायेंगे कि यह तो माँगता ही रहता है। पर किसी ने आपसे जीवन भर न माँगा हो और आपसे कुछ माँगे, तो शायद ही कोई कृपण-शिरोमणि होगा, जिसे संकोच न लगे। कोई भी सभ्य व्यक्ति यही सोचेगा कि उन्होंने तो कभी कुछ माँगा ही नहीं, अब इनको 'नहीं' कैसे करें। भरत मुझे लौटाने आ रहे हैं। समझ गये कि सेना लेकर क्यों आ रहे। इसनी ऊँची भावना! प्रभु समझ गये और सोचने लगे – जिस भरत ने आज तक मुझसे दृष्टि नहीं मिलाई, मुझसे कुछ नहीं माँगा, वह अब जब मुझसे कहेगा कि लौट चलिए, तो क्या मैं 'नहीं' कह सकूँगा?

बड़ी मधुर बात है – प्रभु समझ गये कि मुझमें यह शक्ति नहीं है कि मैं किसी भी प्रकार से भरत की माँग को टाल सकूँ। यह निश्चित है कि मैं भरत को 'ना' कर नहीं सकता। तो फिर क्या होगा? रावण आदि राक्षसों का वध और देवताओं के समाज की समस्या का समाधान कैसे होगा?

और तब गोस्वामी जी ने एक अनोखी बात कही – यदि कोई समुद्र में जाय, तो वह डुबायेगा ही, परन्तु किसी ऐसे समुद्र की कल्पना कीजिए जिसमें एक साथ ही डुबाने की शक्ति भी हो और उबारने की भी। तो प्रभु ने जब अनुभव किया कि मैं तो डूबा और सोचने लगे कि अब किसके सहारे बचूँ? और क्षण भर में हीं प्रभु को समाधान मिल गया – अरे, यह तो कुछ नहीं है, मैंने व्यर्थ की चिन्ता पाल ली थी। किसी ने पूछा – महाराज, क्या आपको समाधान मिल गया? बोले – भरत तो केवल मेरी आज्ञापालन करता रहा है, यह मैंने कैसे कल्पना कर ली कि आज तक आज्ञापालन करनेवाला आज मुझे आज्ञा देगा? यह सोचकर मैंने भूल की। इसलिए उसने जो आज तक मुझसे कुछ नहीं कहा, वह आज भी कुछ नहीं कहेगा। और सोचने लगे – भरत तो साधु है –

समाधान तब भा यह जाने।
भरत कहे मह साधू सयाने।।

❖ (क्रमशः) ❖

हिन्दू धर्म की रूपरेखा (७)

स्वामी निर्वेदानन्द

(प्राचीन काल में वैदिक या सनातन धर्म और वर्तमान में हिन्दू धर्म के रूप में प्रचलित धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है और विश्व के अन्य धर्मों से इसमें क्या समानता व भेद है, इसे समझ पाना हिन्दुओ के लिए भी अति आवश्यक है। विद्वान् लेखक ने अपने बँगला तथा अंग्रेजी ग्रन्थ में इस धर्म के मूल तत्त्वों का बड़ा ही सहज निरूपण किया है। उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है। – सं.)

अध्याय ९

राजयोग

एक तरह के लोग हैं, जो हर बात मान लेने को तैयार नहीं होते। फल को देखे बिना वे किसी भी विषय पर अपनी आस्था को स्थिर नहीं कर पाते। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के लोगों का स्वभाव प्राय: ऐसा ही हुआ करता है। वर्तमान युग में इसी वर्ग के लोगों की संख्या क्रमश: बढ़ती जा रही है।

ऐसे स्वभाव के लोगों के लिए राजयोग विशेष उपयोगी है। राजयोग में किसी भी प्रकार के मतवाद के लिए स्थान नहीं है। यह किसी भी धर्म-मत को बिना समझे मान लेने को नहीं कहता और न ही किसी रहस्यमय अनुष्ठान की ही शिक्षा देता है। राजयोग में तो केवल चित्त की पूर्ण स्थिरता प्राप्त करने के लिए साधन-क्रम की विधि प्राप्त होती है। चित्त के शान्त होते ही परमार्थ या मुक्ति की उपलब्धि हो जाती है।

राजयोग को अष्टांग-योग भी कहते हैं, क्योंकि इस योग में आठ क्रमिक साधनों का निर्देश दिया जाता है। इसमें पहले से कुछ भी मानकर चलने की जरूरत नहीं। इस साधन-पद्धति की सार्थकता की परीक्षा के लिए इसके एक के बाद एक साधन को अपनाया जा सकता है। सच्ची लगन के द्वारा यहाँ तक कि आरम्भिक साधनाएँ भी शीघ्र ही अपूर्व उपलब्धियाँ प्रदान कर साधक को चकित कर सकती हैं।

अष्टांग-योग

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि – एक के बाद एक ये आठ साधन मिलकर ही अष्टांग-योग या राजयोग कहलाते हैं।

इनमें से प्रथम दो का उद्देश्य है – नैतिक शुद्धता। **यम** का अर्थ है – अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा असंग्रह। और **नियम** के अन्तर्गत आते हैं – शौच, सन्तोष, तितिक्षा, स्वाध्याय तथा ईश्वर में आत्म-समर्पण। इन सभी नैतिक आधारों के बिना आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होना असम्भव है। इसीलिए साधन-पथ में आगे बढ़ने से पूर्व यम तथा नियम का भलीभाँति अभ्यास करना अति आवश्यक है।

इसके बाद है **आसन**। इसे एक तरह का शारीरिक व्यायाम भी कहा जा सकता है। आसन के अभ्यास से काफी काल तक सीधे तथा स्थिर होकर बैठने की क्षमता आती है। आसनों के विभिन्न प्रकार हैं। परन्तु प्रत्येक आसन में रीढ़ की हड्डी सीधी रखनी होती है और सिर, गर्दन तथा सीना एक सीध में रखने पड़ते हैं। अभ्यास के द्वारा किसी भी एक आसन में स्थिर होकर कम-से-कम घण्टे भर बैठने की क्षमता विकसित होनी चाहिए।

प्राणायाम एक तरह की श्वास-क्रिया है। नियमित रूप से निश्वास-प्रश्वास एकाग्रता में सहायता करते हैं। आसन तथा प्राणायाम के अभ्यास के फल से मन अन्तर्मुखी हो जाता है। लेकिन प्राणायाम किसी विशेषज्ञ के निर्देशानुसार ही किया जाना चाहिए; अन्यथा स्वास्थ्य-हानि की आशंका है।

सूक्ष्म इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करने को **प्रत्याहार** कहते हैं। इन्द्रियाँ मन को सदैव चंचल बनाये रखती हैं। आँख-कान आदि प्रत्यक्ष ज्ञान-प्राप्ति के बाह्य यंत्र मात्र हैं। और इन्हीं के अनुरूप भीतर भी सूक्ष्म यंत्र हैं, जिन्हें शास्त्रों में ज्ञानेन्द्रिय कहा गया है। सहज अवस्था में भीतर की ये ज्ञानेन्द्रियाँ अपने बाह्य यंत्रों के साथ जुड़ी रहती हैं। बाह्य यंत्रों के साथ विषयों के साथ योग होने से सूक्ष्म इन्द्रियाँ चंचल हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप मन में रूप-रस आदि की विभिन्न तरंगें उठती रहती हैं। जैसे, स्थूल नेत्रों से फूल देखने पर सूक्ष्म दर्शनेन्द्रिय मन में फूल का रूप उत्पन्न करती है। हम लोग बाहर जो कुछ देखते हैं, वह सब मानसिक रूप ही है। रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श – सबके बारे में इसी प्रकार संवेदना हुआ करती है। इस प्रकार हमारे हर संवेदना के मूल में ज्ञानेन्द्रिय के प्रभाव से उत्पन्न एक मानसिक तरंग या वृत्ति होती है। जाग्रत अवस्था में बाह्य यंत्रों के सर्वदा विषयों से जुड़े होने के कारण हमारा मन तथा सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियाँ निरन्तर चंचल होती रहती हैं।

इतना ही नहीं, विषयों तथा ज्ञानेन्द्रियों के योग से उत्पन्न अनुभूतियाँ मन के अवचेतन स्तर में भी वैसे ही विचार तथा प्रवृत्तियाँ जगाकर कर्मेन्द्रियों को चंचल कर डालती हैं और तब मन में संकल्प की तरंग उत्पन्न होती है।

मान लो, मैंने एक फूल देखा। उस फूल की अनुभूति के साथ-ही-साथ मन के अन्तस्तल से बुलबुलों की भाँति बहुत-से विचार तथा प्रवृत्तियाँ मन के चेतन स्तर पर उठती रहती हैं और इसके बाद उठता है फूल को लेने का संकल्प। इस प्रकार एक-एक कर आनेवाले ये विकार धीरे-धीरे चित्त को

क्षुब्ध कर देते हैं। अत: ज्ञानेन्द्रियाँ जब तक अपने आँख-कान आदि बाह्य यंत्रों के साथ जुड़ी रहेंगी, तब तक मानसिक चंचलता पर विजय पाना असम्भव है।

प्रत्याहार का उद्देश्य है – आन्तरिक इन्द्रियों को उनके बाह्य स्थूल यंत्रों से अलग करके उन्हें शान्त करना। इससे चित्त की स्थिरता में काफी सहायता मिलती है। **मन के अवचेतन स्तर से विचारों को न उठने देना ही प्रत्याहार का पहला साधन है।** यह साधन अत्यन्त सहज है। इसमें मन को स्वच्छन्द छोड़कर केवल यह देखते रहना होता है कि कौन-कौन-से विचार अन्तस्तल से एक-एक कर उठकर उसे आक्रान्त करते हैं। यह मन को शून्य करने की एक पद्धति है। इस अभ्यास के फलस्वरूप मन के अवचेतन स्तर से विचारों का उठना धीरे-धीरे कम हो जायेगा। मन स्थिर होता जायेगा और साथ ही शरीर का स्नायु-तंत्र क्रमश: शान्त तथा सबल होता जायेगा। तब हम सूक्ष्म इन्द्रियों को वशीभूत करके उन्हें स्थूल इन्द्रियों से अलग कर सकेंगे।

प्रत्याहार के अभ्यास से मन के थोड़ा शान्त होते ही मनोवृत्तियाँ प्रखर हो उठती हैं। ज्यों-ज्यों मन की चंचलता कम होती है, त्यों-त्यों निरीक्षण-विचार-स्मृति तथा इच्छा आदि की शक्तियाँ बढ़ती जाती हैं। वस्तुत: स्थिर मन ही तीक्ष्ण, दृढ़ तथा सबल होता है। ऐसे मन की नींव पर ही चरित्र का निर्माण होता है। प्रत्याहार साधक के चित्त को बाहर तथा भीतर के विभिन्न विक्षोभों के कारणों से मुक्त करके उसे काफी स्थिर कर देता है। कुछ दिन इसका अभ्यास करने पर वह समझ जाता है कि मन क्रमश: वश में आ रहा है और किसी एक विषय या भाव पर उसे एकाग्र करना सम्भव प्रतीत होने लगता है।

इस अवस्था के बाद, मन को किसी एक विषय पर स्थिर करने की चेष्टा करनी चाहिए। साधक को स्वयं ही ध्यान के लिए एक विषय चुन लेना होगा। पर साधक के लिए स्वयं निर्वाचित उस विषय पर, चेष्टा करने पर भी निश्चल भाव से मन को लगाये रखना सम्भव नहीं है। ध्येय वस्तु मानो धुँधली रहती है, अथवा कभी बिल्कुल ही अदृश्य हो जाती है। ऐसी अवस्था में साधक को अपना मन अपने अभीष्ट वस्तु के चिन्तन में एकाग्र करने की चेष्टा करते रहना होगा। इसी प्रक्रिया का नाम है – **धारणा**।

धारणा के अभ्यास की सहज परिणति **ध्यान** में होती है। किसी वस्तु पर बार-बार मन स्थिर करने की चेष्टा करने के फलस्वरूप एक दिन अति अल्प काल के लिए निरंकुश रूप से एकाग्र हो जाता है। उस समय मन मानो एक अविच्छिन्न धारा के समान अपने अभीष्ट की ओर प्रवाहित होने लगता है। मन की इसी अवस्था को ध्यान कहते हैं।

ध्यान के नियमित अभ्यास से **समाधि** होती है और यही एकाग्रता का चरम रूप है। समाधिस्थ मन अन्य सभी विषयों से अलग रहता है। सुषुप्त व्यक्ति की भाँति ही समाधिस्थ व्यक्ति को भी बाह्य जगत् का बोध नहीं रहता, यहाँ तक की ध्येय वस्तु का रूप तक लुप्त हो जाता है। परन्तु समाधि के प्रभाव से मन में अतीव प्रखरता आ जाती है। इसी अवस्था में अभीष्ट वस्तु का वास्तविक तत्त्व विद्युत्-कौंध की भाँति सहसा प्रकट होकर पूरे मन को वशीभूत कर लेता है। और तभी परम वस्तु पूरी तौर से अधिकार में आती है।

मन की इस अवस्था को **सम्प्रज्ञात-समाधि** कहते हैं। प्रकृति के क्षेत्र में आनेवाली किसी भी वस्तु का ध्यान करते-करते समाधिस्थ हो जाने से उस वस्तु के विषय में पूर्ण ज्ञान हो जाता है। ऐसे गहन तथा प्रत्यक्ष ज्ञान के साथ ही साधक का उस वस्तु पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। स्थूल पंचभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा आकाश) पर मन को एकाग्र करके हिन्दू-योगी बाह्य प्रकृति को वशीभूत कर लेते हैं।

यम आदि पाँच अंग, एकाग्रता रूप योग को पुष्ट मात्र करते हैं। बाकी तीन – धारणा, ध्यान, समाधि – एकाग्रता के असल साधन हैं। इन तीनों को एकत्र रूप से **संयम** कहते हैं। संयम का सूत्रपात धारणा से, धारणा की परिणति ध्यान में और ध्यान की परिणति समाधि में होती है।

संयम का अभ्यास पहले किसी स्थूल वस्तु पर करना होता है और उसके बाद सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतर वस्तु पर। अति सूक्ष्म स्तर पर स्वयं मन ही, मन का ध्येय बन जाता है। इस उपाय से अपने तथा दूसरों के मन को वश में करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है और बाह्य प्रकृति तथा आन्तरिक प्रकृति की प्रत्येक वस्तु पूर्ण रूप से अधिगत हो जाती है।

परन्तु यहीं सब समाप्त नहीं हो जाता। यद्यपि सम्प्रज्ञात समाधि अनेक अन्तर्निहित शक्तियों का विकास करती है, प्रकृति के स्थूल एवं सूक्ष्म सभी विषयों का रहस्य खोल देती है और योगी को उन सबके ऊपर पूर्ण अधिकार प्राप्त करने में सक्षम बनाती है, तथापि यह अन्तर्निहित देवत्व को व्यक्त करके साधक को संसार-चक्र से मुक्त नहीं करा पाती। किसी कारणवश योगी के इस उच्च अवस्था से भी पतित होने पर उसे अनेक जन्मों का दुर्भोग स्वीकार करना पड़ सकता है।

तो भी इतना जरूर है कि इस अवस्था में योगी परम अनुभूति के काफी निकट पहुँच चुका होता है। तब आलस्य-रहित तथा एकनिष्ठ होकर अपने मन में समाधि का अभ्यास करते रहने पर एक दिन योगी को अभूतपूर्व अनुभूति होती है। सहसा उसका चित्त पूर्ण रूप से वृत्ति-रहित होकर चरम प्रशान्ति की उपलब्धि करता है। इसी को **असम्प्रज्ञात समाधि** कहते हैं। इसी अवस्था में आत्मा पूर्ण रूप से आवरण-मुक्त

होकर अपनी दैवी महिमा में प्रकट हो जाती है। तब योगी अपनी सत्ता के मूल उद्‌गम पर पहुँचकर स्पष्ट रूप से देखता है कि वह ब्रह्म के सिवा और कुछ भी नहीं है।

समाधि से उतरने पर व्यक्ति का पूर्ण रूपान्तरण हो जाता है। उसके हृदय में किसी भी प्रकार की कोई कामना नहीं रह जाती; भय या शोक की पीड़ा भी नहीं रह जाती। परमार्थ-लाभ करके वह परितृप्त हो जाता है और उसके चित्त में अविच्छिन्न प्रशान्ति विराजती है। तब प्रेम और करुणा की सजीव मूर्ति के समान वे महापुरुष सारे विश्व के लोगों को बन्धन-मुक्त करने के प्रयास में लग जाते हैं।

चेतावनी –

परन्तु राजयोग की साधना का मार्ग बड़ा जोखिम-भरा है। साधना में आरम्भ से ही व्यक्ति को इस विषय में सचेत रहना पड़ता है। इस पथ में अधिक शीघ्रता अनेक विपत्तियाँ लाती है। यम तथा नियम के अभ्यास के द्वारा आवश्यक नैतिक क्षेत्र तैयार किये बिना अगली साधनाओं में अग्रसर होने का प्रयास कदापि उचित नहीं है। ऐसा करने पर साधक का पूरा श्रम बेकार जाने और स्वास्थ्य बिगड़ जाने की काफी सम्भावना रहती है। ऐसे हठपूर्वक प्रयास के फलस्वरूप स्नायविक दुर्बलता से लेकर मानसिक विकृति तक विविध प्रकार की व्याधियों का आक्रमण हो सकता है। फिर, किसी विशेषज्ञ की सहायता के बिना प्राणायाम का अभ्यास करने पर ऐसी ही विपत्तियों की सम्भावना है। इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास न करके, बल्कि उसे पूरी तौर से छोड़कर, प्रत्याहार का अभ्यास आरम्भ करने में कोई हानि नहीं है।

प्रत्याहार के अभ्यास के फलस्वरूप मन अपने स्वरूप को समझना आरम्भ कर देता है। तब योगी एक नवीन अनुभूति के राज्य में प्रवेश करता है। जब धारणा, ध्यान तथा समाधि की सहायता से एकाग्रता गहन होती है, तब योगी को अपने अन्तर की असीम शक्ति का बोध होता है। साधारण व्यक्ति इस विशाल मानसिक शक्ति का अधिकांश भाग काम में नहीं लगा पाते और इसका काफी अंश नष्ट भी कर डालते हैं। पर साधक योग के प्रभाव से अन्तःकरण की छिपी हुई अनेक शक्तियों को प्रकट करके तरह-तरह के अद्‌भुत कर्म सम्पन्न कर सकता है। इन असाधारण शक्तियों को सिद्धियाँ कहते हैं। इन्हीं के बल पर योगी वशीकरण, दूर-दर्शन, दूर-श्रवण आदि अनेक अलौकिक कर्म कर सकता है।

परन्तु ये सिद्धियाँ योगी के पतन का कारण भी सिद्ध हो सकती हैं। धन-सम्पत्ति के समान ही ये अलौकिक क्षमताएँ भी योगी को उसके लक्ष्य से भटका देती हैं। उसके मन में सिद्धि के प्रभाव से लोगों को विस्मित करके धन व सम्मान पाने का लोभ आ सकता है। और इधर कदम बढ़ाते ही फिर से संसार-चक्र में पड़ना अवश्यम्भावी है।

सच्चा मुमुक्षु इस प्रकार के लोभ में नहीं पड़ता। सिद्धियों की प्राप्ति के लिए कोई प्रयास करना उसके लिए कदापि उचित नहीं। यहाँ तक कि योगाभ्यास के फल-स्वरूप यदि किसी दिन उसे कोई अलौकिक-शक्ति मिल भी गयी, तो उसे उसके बल पर दूसरों को चमत्कृत करने की प्रवृत्ति का दमन करना होगा।

वैसे एक श्रेणी के लोग हैं, जो भौतिक सम्पदा तथा सिद्धियाँ पाने के हेतु से ही राजयोग का अभ्यास करते हैं। स्वास्थ्य, सौन्दर्य तथा यौवन में वृद्धि और सिद्धि का प्रभाव दिखाकर दूसरों को मुग्ध करना ही उनका उद्देश्य होता है। कहना न होगा कि ये आत्म-केन्द्रित और संसारासक्त लोग हैं। ऐसे लोगों के हाथ में अलौकिक शक्तियों का रहना समाज के लिए संकटकारी है, क्योंकि ये लोग जनता को काफी हानि पहुँचा सकते हैं। इस प्रकार जो राजयोग देवत्व की अभिव्यक्ति का साधन है, वही सिद्धि तथा सम्मान के भूखों के हाथ में पड़कर समाज-विरोधी अनर्थ उत्पन्न कर सकता है। अतः हमें स्मरण रखना होगा कि जो लोग योग-मार्ग को अलौकिक शक्तियों की प्राप्ति का उपाय मात्र बताते हैं, वे धर्म-राज्य के सच्चे पथ-प्रदर्शक नहीं हैं। व्यक्ति कहीं इनके चक्कर में न पड़ जाय, इस विषय में सावधान रहना होगा। आध्यात्मिक उन्नति के साथ इन विचित्र शक्तियों का कोई नाता नहीं। सांसारिक भोग-कामना के समान ही सिद्धियों की कामना भी अध्यात्म-जीवन के लिए घातक है, अतः इनका विष के समान त्याग कर देना चाहिए।

❖ (क्रमशः) ❖

तुझे देखता मैं

नारायण दास बरसैंया

नयन मूँदता तो, तुझे देखता मैं,
नयन खोलकर भी, तुझे देखता मैं ।।

तुम्हीं व्याप्त भीतर, तुम्हीं व्याप्त बाहर,
जिधर देखता हूँ, तुझे देखता मैं ।।

तुझे चाँद-तारों में, सूरज में देखा,
गगन के भी पीछे, तुझे देखता मैं ।।

हिमालय बना तो, उठा नील नभ तक,
शिखर में निखरता, तुझे देखता मैं ।।

मुझे देखता है, तू अपलक, युगों से,
अगर दृष्टि पाऊँ, तुझे देखता मैं ।।

करूँ मैं घृणा-द्वेष, किससे बता तू,
असुर में भी प्रतिपल, तुझे देखता मैं ।।

मुझे तूने मीरा का प्याला पिलाया,
जहर-रूप तुझको घुला देखता मैं ।।

जीवन का समुचित उपयोग

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

हमारे जीवन का समुचित उपयोग तब होता है जब उसे हम दूसरों के काम में लगाते हैं। अपने लिए तो पशु भी जीते हैं। केवल मनुष्य में ही ऐसी क्षमता है कि वह चाहे तो दूसरों के लिए जी सकता है। स्वामी विवेकानन्द कहते थे कि जो जितनी मात्रा में दूसरों के लिए जीता है, उसमें मानवता उतनी ही मात्रा में प्रकट होती है। स्वार्थ का नाश ही मानवता को प्रकट करता है।

हम जो उपासना आदि करते हैं, वह भी इसीलिए कि हम स्वार्थ के दोष से मुक्त हों और दूसरों के प्रति सदैव भलाई का आचरण करें। एक ओर तो हम पूजा-पाठ करते हों, देवस्थानों के दर्शन हेतु जाते हों और दूसरी ओर अपने स्वार्थ की संकीर्ण सीमा के भीतर घिरे हों, तो हमारी ऐसी उपासना आत्मशुद्धि के लिए न होकर व्यावसायिक ही अधिक होती है। हम ईश्वर की प्रसन्नता तब प्राप्त करते हैं, जब हम उसे मात्र मन्दिर की मूर्ति में न देख, बाहर संसार में पीड़ितों और दुखियारों के भीतर देखते हैं तथा उनकी पीड़ा को यथाशक्ति दूर करने की चेष्टा करते हैं। ईश्वर को मात्र अपनी स्तुति या चापलूसी पसन्द नहीं।

एक धनी व्यक्ति का एक बगीचा था, जिसमें दो माली काम करते थे। एक माली बड़ा सुस्त और कमजोर था, परन्तु जब कभी वह अपने मालिक को आते देखता, झट उठकर खड़ा हो जाता और हाथ जोड़कर कहता, "मेरे स्वामी का मुख कैसा सुन्दर है!" और ऐसा कह उसके सम्मुख नाचने लगता। दूसरा माली ज्यादा बातचीत नहीं करता था, उसे तो बस अपने काम से काम था। वह बड़ी मेहनत से बगीचे में तरह-तरह के फल-सब्जियाँ पैदा कर वह सब स्वयं अपने सिर पर रखकर मालिक के घर पहुँचाता था, यद्यपि मालिक का घर बहुत दूर था। अब इन दो मालियों में से मालिक किसको अधिक चाहेगा? बस, ठीक वैसे ही यह संसार एक बगीचा है, जिसके मालिक भगवान हैं। यहाँ भी दो प्रकार के माली हैं – एक तो वह, जो अकर्मण्य, सुस्त और ढोंगी है तथा जो भगवान के सुन्दर नेत्र, नासिका तथा अंगों की प्रशसा करता रहता है और दूसरा वह है, जो भगवान् की सन्तानों की, दीन-दुखी प्राणियों की और भगवान् की सृष्टि की चिन्ता करता है। इन दो प्रकार के लोगों में से कौन भगवान् को अधिक प्यारा होगा? निश्चय ही वह जो उनकी सन्तानों की सेवा करता है। जो व्यक्ति भगवान की सेवा करना चाहता है, उसे उनकी सन्तान की पहले सेवा करनी चाहिए। कहा भी तो है कि जो भगवान् के दासों की सेवा करता है, वही भगवान् का सर्वश्रेष्ठ दास है।

जीवन का समुचित उपयोग इसमें है कि उसे यथासम्भव शुद्ध रखा जाय और सामर्थ्य के अनुसार अभावपीड़ितों कीं सहायता की जाय। इससे चित्त की मलिनता दूर होती है। चित्त के शुद्ध होने पर हृदय के भीतर वास करने वाले भगवान् प्रकट हो जाते हैं।

इसे यों समझें कि यदि शीशे पर धूल पड़ी है, तो उसमें हम अपना प्रतिबिम्ब नहीं देख सकते। धूल के साफ होने पर प्रतिबिम्ब साफ झलकने लगता है। इसी प्रकार अज्ञान और अज्ञान से उत्पन्न स्वार्थपरता हमारे हृदयरूपी शीशे पर धूल की भाँति जमा हो गये हैं। जो मनुष्य यह सोचता रहता है कि "मैं ही पहले खा लूँ, मुझे ही सबसे अधिक धन मिल जाय, मैं ही सर्वस्व का अधिकारी बन जाऊँ" - वह स्वार्थी है। निःस्वार्थी व्यक्ति तो कहता है, "मुझे अपनी चिन्ता नहीं है, मुझे स्वर्ग जाने की भी आकाक्षा नहीं है। यदि मेरे नरक में जाने से किसी को लाभ हो सकता है, तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ।" यह निःस्वार्थता ही धर्म की कसौटी है। जिसमें जितनी अधिक निःस्वार्थता है, वह उतना ही आध्यात्मिक है तथा भगवान के उतना ही समीप है, भले ही वह अज्ञेयवादी हो या नास्तिक। ऐसा व्यक्ति ही अपने जीवन का समुचित उपयोग करता है। इसके विपरीत, यदि व्यक्ति स्वार्थी है, तो चाहे उसने संसार के सब मन्दिरों के ही दर्शन क्यों न किये हों, सारे तीर्थों में ही वह क्यों न गया हो, पर वह भगवान् से बहुत दूर है और कहना होगा कि उसने जीवन का समुचित उपयोग करना सीखा नहीं।

❑❑❑

आत्माराम की आत्मकथा (१०)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्द जी ने उन्हें संन्यास-दीक्षा प्रदान की थी। भक्तो के आन्तरिक अनुरोध पर उन्होंने बँगला भाषा में श्रीरामकृष्ण के कुछ शिष्यों तथा अपने अनुभवो के आधार पर कुछ प्रेरक तथा रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। डॉ. डी. भट्टाचार्य द्वारा इसके हिन्दी अनुवाद की पाण्डुलिपि हमें श्रीरामकृष्ण कुटीर, बीकानेर के सौजन्य से प्राप्त हुई है। अनेक बहुमूल्य जानकारियों से युक्त होने के कारण हम इसका क्रमश: प्रकाशन कर रहे हैं। इसके पूर्व भी हम उनकी दो छोटी पुस्तको – 'प्रभु परमेश्वर जब रक्षा करें' तथा 'मानवता की झाँकी' का धारावाहिक प्रकाशन कर चुके हैं – सं.)

नदी के किनारे-किनारे लगभग डेढ़ मील चलने के बाद चढ़ाई शुरू हुई। तेज धूप, भूख की पीड़ा तथा पाँवों के दर्द के कारण मुझमें चलने की क्षमता बिल्कुल भी नहीं रह गयी थी। नदी से भरपेट पानी पीकर थोड़ा विश्राम करने के बाद चढ़ाई शुरू ही करने को था कि एक पहाड़ी को नीचे उतरते देखकर रास्ते की जानकारी लेने हेतु मैं रुक गया। उससे यही सूचना मिली कि पानी तो रास्ते में नहीं मिलेगा, परन्तु गाँव ज्यादा दूर नहीं है।

कमण्डलु मे पानी भरकर और – 'जय-माँ' बोलने के बाद चलना शुरू किया। आशा थी कि गाँव में खाना जरूर मिलेगा। चढ़ाई विकट थी। बिल्कुल सीधी चढ़ाई। सिर चकराने लगा। दो-चार कदम चढ़ता और लाठी का सहारा लेकर हाँफता। बीच-बीच में कहीं दो-चार मिनट बैठना भी पड़ जाता था। दोपहर के साढ़े तीन या चार बज रहे होंगे। सामने पहाड़ के ऊपर गाँव नजर आने लगा। कमण्डलु का पानी पीते-पीते कबका समाप्त हो चुका था। इस आशा के साथ कि गाँव के पास आ पहुँचा हूँ कि वहाँ तो अवश्य ही जल मिलेगा – किसी तरह प्यास रोके बड़े कष्टपूर्वक ऊपर चढ़ने लगा। पहाड़ के ऊपर अब समतल भूमि पर आ गया था। ठण्डी-ठण्डी हवा से शरीर में थोड़ी स्फूर्ति आ गयी थी। जल्दी-जल्दी गाँव के भीतर गया।

हे भगवान! मकान तो वहाँ करीब अट्ठारह-बीस थे, पर सभी बन्द थे। कोई भी जीव या व्यक्ति दिखाई नहीं दिया। हताश होकर सिर पर हाथ रखकर मैं वही बैठ पड़ा। प्राण की आशा बहुत पहले ही त्याग चुका था। बड़ी प्यास लगी थी। जीभ सूख कर अंन्दर की ओर खिंच रही थी और पानी का कहीं चिह्न तक दृष्टिगोचर नही हो रहा था। मन में आया – "अन्न मत दो माँ, कोई बात नहीं – मृत्यु के लिए मैं तैयार हूँ। पर दया करके पानी तो दे दो। पानी मिलने से ही सन्तुष्ट हो जाऊँगा।" ओह, कितना कष्ट! देह में अब शक्ति नही बची है, सिर चकरा रहा है और कानों में भों-भों की आवाज हो रही है। खड़े होने की शक्ति जा चुकी थी। एक तरह से कहे तो मैं मद्यप के समान झूमते हुए चल रहा था।

गाँव के बाहर एक विशाल वट-वृक्ष था, किसी तरह बड़े कष्ट से उसके नीचे पहुँचा और उसके नीचे कम्बल बिछाकर अपनी अन्तिम शय्या पर लेट गया। सोचने लगा – "ॐ-ॐ-ॐ – बस, अब मेरी भव-लीला समाप्त हुई। ॐ-ॐ-ॐ – बस, अब कुछ नहीं बचा है मन, जपो – ॐ-ॐ-ॐ। माँ, तुम धन्य हो। साधना अपूर्ण रह गई। इस शरीर से तुम्हारा दर्शन नहीं हुआ। मेरे जीवन का उद्देश्य कल्पना के राज्य में विलीन हो गया। उसे साकार होने का अवसर तुमने नहीं दिया। धन्य, माँ! धन्य। शरणागत के प्रति ऐसा व्यवहार किया। इसे कभी नहीं भूलूँगा। यदि फिर जन्म हो, तो भूलकर भी तुम्हारी पूजा नहीं करूँगा, तुम्हें नहीं पुकारूँगा। परन्तु यह जन्म, यह देह-मन सब तुम्हारा हो चुका है और मृत्यु मेरे सामने खड़ी है। ... अपना कर्तव्य, जैसा इस क्षुद्र बुद्धि द्वारा जैसा समझा, वैसा अवश्य निभाया है। इष्ट और माँ के रूप में तुम्हारा जो कर्तव्य है, वह तुम जानती हो और गुरु के रूप में गुरु के कर्तव्य भी तुम जानती हो। मेरे मन में यही सन्तोष है कि मैं अपना कर्तव्य नहीं भूला और मृत्युकाल और हजारों दु:खों के बीच भी तुम्हें नही छोड़ा, नही भूला। बस माँ, अब तुम्हारा कर्तव्य तुम जानो। ॐ-ॐ-ॐ।

इतने में मानव-कण्ठ की ध्वनि सुनाई देने लगी। ऐसा लगा मानो कुछ लोग बातचीत कर रहे हैं। सोचा – निकट आने पर जल माँगूँगा। और कुछ नहीं तो पानी पीकर ही सुख से मर सकूँगा। पर कोई पास नहीं आया। कान खड़े करके सुनने का प्रयास किया कि शब्द किधर से आ रहे थे। थोड़े-से जल के लिए अन्तिम प्रयास किया। शायद वहाँ पानी हो। आवाज को लक्ष्य बनाकर बड़े कष्ट के साथ लड़खड़ाते हुए दक्षिण की ओर चलना शुरू किया। क्रमश: आवाज स्पष्ट होने लगी। प्राणों में फिर से आशा जाग उठी। पानी अवश्य मिलेगा!

एक बड़े गहरे खड्ड (खाई) के सामने जा पहुँचा। लेटकर नीचे की ओर झाँककर देखा – चार-पाँच लोग बैठे बाते कर रहे थे। कोई रोटी बना रहा था। छोटा-सा दो मंजिला पहाड़ी मकान था। दो-तीन बच्चे-बच्चियाँ भी खेल रहे थे। जोरों से चिल्लाकर कहा – "पानी!" दो-तीन बार चिल्लाने और एक कपड़ा लटकाने पर उन लोगों ने मेरी ओर देखा। मैने मुख पर अंगुली से स्पर्श करके इशारा किया – "पानी!"

एक जन ने कहा – "नीचे।" मैने इशारे से पूछा – जाने का रास्ता कहा से है। उन लोगों ने मुझे जिधर रास्ता दिखाया, उस ओर मैं गया, परन्तु उस पगडण्डी से नीचे उतरने शक्ति मुझमें नहीं बची थी। देखा – मकान के आँगन में खड़े पति-पत्नी देख रहे हैं कि मैं उतरा या नहीं ! पत्नी ने कुछ कहा। पति दौड़कर मेरी ओर आने लगा। समझ गया कि मातृजाति के कोमल सौहार्द हृदय ने मेरी दशा समझ ली है, इसीलिए मुझे लेने को भेजा है।

पहाड़ी ऊपर आ पहुँचा और बोला – "चलो स्वामीजी। नीचे हमारे मकान में चलो। मुझे पकड़कर धीरे-धीरे चलो। आज हमारे यहाँ गृह-प्रवेश है, इसीलिए पाँच ब्राह्मणों को भोजन करा रहा हूँ और तुम एक संन्यासी अनायास ही आ पहुँचे हो। मेरा बड़ा सौभाग्य है। आज सुबह ही मेरी स्त्री कह रही थी – यदि एक साधु भी होते, तो अनुष्ठान सर्वांग-पूर्ण होता। सो भगवान ने हमारी कामना पूरी कर दी है। चलो, स्वामीजी चलो।" बात करने की मुझमें सामर्थ्य न थी।

मन में ये प्रश्न उठने लगे – "यह भाग्य था या देव-कृपा ! पंजाबी लोग क्या इसी को 'अन्न-जल' कहते हैं। इसी को क्या Destiny कहते हैं।" उसे पकड़कर सावधानी से उतरने लगा। – "क्या मैं भाग्यवान हूँ? इसका निर्णय कौन करेगा?" आँगन में एक लकड़ी की बेंच थी, जाकर उसी पर बैठ गया और बोला – "पानी !"

गृह-स्वामिनी दौड़कर पानी तथा साथ में थोड़ा-सा गुड़ भी ले आई और कहा – "स्वामीजी, तुम्हें बड़ा कष्ट हो रहा है, लगता है कि आज तुमने कुछ भी नहीं खाया है।" ये स्नेह-भरे शब्द सुनकर मेरी आँखें नम हो उठीं। मुँह फेरकर किसी तरह आँसुओं को रोकने का प्रयास किया। गुड़ के साथ पानी पीकर पिपासा शान्त हुई। शरीर स्निग्ध हुआ।

गृह-स्वामिनी बोली – "स्वामीजी, तुम थोड़ा ऊपर जाकर आराम करो, रोटी बन रही है, तैयार होते ही तुमको बुलाऊँगी।" इसी बीच एक बार वह ब्राह्मण-लोगों के पास गयी थी, मुझे खिला देने का अनुरोध करने के लिए – क्योंकि, जब उन लोगों ने सिर हिलाकर 'नहीं' कर दिया (वे लोग थोड़े दूर बैठे थे और मेरी जगह से धीमे स्वर में हुई वे बातें सुनाई नहीं दे रही थीं।) इसके बाद उसने अपने मुरझाये हुए मुख के साथ आकर मुझसे वह अनुरोध किया था।

मैं ऊपर गया। वहाँ एक चटाई बिछी हुई थी। उसी पर लेट गया। मेरे पाँवों के तलवों की हालत देखकर वह कहने लगी – "अहा-हा, कितना कष्ट हो रहा है ! क्या तुम जूते नहीं पहनते, स्वामीजी?"

मैंने कहा – "पहनता तो हूँ, मगर वह फ़ट गये थे।"

गृह-स्वामिनी कहने लगी – "हम लोग यहाँ नहीं रहते, हमारा गाँव यहाँ से बहुत दूर है। आज शुभ दिन है, इसलिए इस नये मकान में गृह-प्रवेश करने आये हैं। यहाँ पानी की बड़ी तंगी है, एक मील नीचे से लाना पड़ता है, इसलिए हम यहाँ केवल चौमासे (वर्षा ऋतु) में ही आते हैं।"

मैं – "क्या इसी कारण ऊपर के गाँव में कोई नहीं है।"

गृह-स्वामिनी – "वह तो चौमासा का ग्राम है। वहाँ कोई नहीं रहता है। लगता है तुम वहाँ गये थे।"

और फिर पाँवों की ओर देखकर बोली – "अहा ! पूरे तलवे में फफोले पड़ गये हैं ! (उँगलियों से दबाकर देखने के बाद) तुम कैसे चल रहे हो? अजी, जरा जल्दी से थोड़ा गर्म पानी ले आओ तो ! देखो, स्वामीजी के पाँवों में क्या हुआ है? अहा, तुम्हें कितना कष्ट हो रहा है !"

पहाड़ी-माँ के स्नेहपूर्ण व्यवहार ने – पूर्ण अपरिचित होकर भी चिर-परिचित की नाईं आचरण से मैं मुग्ध हो गया था। आँखों के आँसू अब रोकने में समर्थ नहीं हो सका, दो बूँद गिर ही पड़े। जल्दी से पोंछ लिया कि कहीं ज्ञात न हो जाय, कहीं दबे हुए दु:खों का स्रोत न फूट पड़े। नहीं, नहीं, मेरे हृदय के दु:ख मेरे हृदय में ही रहेंगे, किसी से कहे नहीं जायेंगे।

सोचने लगा – "माँ, आज ये लोग यहाँ क्या मेरे लिए ही आये थे? यह सब क्या तुम्हारी ही 'रचना' है। कितना स्नेह है इस पहाड़ी-माँ के अन्तर में ! इनके अर्धनग्न शरीर देखकर हम इन्हें जंगली कहते हैं; मलिन शरीर तथा मलिन वस्त्र देखकर घृणा से आँखें फेर लेते हैं ! सोचते हैं कि हम सभ्य जगत् के हैं और यहाँ के कौपीनधारी पुरुष अज्ञानी हैं, यहाँ की स्त्रियाँ सभ्य जगत् के आचार-विचार से अपरिचित तथा दरिद्र हैं। हम तथाकथित 'सभ्य' लोग इनकी दशा देखकर हँसते हैं, इनका अज्ञानपूर्ण जीवन हमारे Pass time में हँसी की खुराक है। क्या कोई किसी अपरिचित से इतने स्नेहमय और अपनत्वपूर्ण व्यवहार की आशा कर सकता है? ये लोग सभ्य हैं या हम लोग, जो सभ्यता की ध्वजा उड़ाये फिरते हैं और अंहकार से मत्त होकर इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं? क्या बाग-बगीचे, भवन, वस्त्र-आभूषण, गाड़ी-घोड़ा आदि सभ्यता के चिह्न और मापदण्ड हैं? या फिर हृदय, सरलता, दया, सद्गुण आदि सभ्यता के मापदण्ड हैं? माँ, तुमने अपने इस पहाड़ी स्वरूप में मुझे कितनी बड़ी शिक्षा दी ! शायद यही शिक्षा पाना तथा यह स्नेहमय दृश्य देखना ही मेरे यहाँ आने तथा इतना कष्ट उठने का उद्देश्य था !" – इसी प्रकार सोचता हुआ मैं मन-ही-मन बारम्बार इस पहाड़ी-माँ को नमस्कार करता रहा।

गर्म पानी आया, उसमें थोड़ा नमक मिलाकर वह मेरे पैर धोने लगी और छोटे बच्चों को पंखे से हवा करने को कहा। वह पूछने लगी – "स्वामीजी, कल किस गाँव में भिक्षा ली थी?" मैंने बताया – "कल भिक्षा नहीं माँगी, क्योंकि जंगल में पड़ा था। रास्ता भूल जाने से ही यह हालत हुई।" वह बोली – "क्या ! इसीलिए तुम्हें इतना दुर्बल देख रही हूँ।"

जल्दी से रसोई तैयार हुई या नहीं – देखने गई। और भी थोड़ी देर है, जानकर नाराज हुई। पति से कहा – "स्वामीजी दो दिन से भूखे हैं, जल्दी भोजन का प्रबन्ध करो। कमरे के कोने में दो-चार हण्डियाँ थीं, दौड़कर वह उन्हीं में देखने लगी कि खाने-योग्य कुछ है या नहीं। अपने बच्चों के लिए लाया हुआ बहुत दिनों का पुराना मुरमुरा और पुराने नारियल का आधा भाग मिला। उसी को लाकर बड़े स्नेहपूर्ण स्वर में कहा – "खाओ महाराज, थोड़ा-सा खाओ। तुम्हें जरूर भूख से बहुत कष्ट हो रहा है। खाओ। यहाँ और कुछ लाई नहीं, केवल यही लाई थी, लेकिन वे रोटी खा लेंगे और कल तो हम अपने गाँव लौट ही रहे हैं। तुम खा लो।"

मुझमें 'ना' करने की सामर्थ्य न थी। पहाड़ी माँ की वह स्नेहपूर्ण दृष्टि, इतना कोमल अनुरोध, ऐसा अपूर्व भाव – मैं जीवन में नहीं भूल सकूँगा। ऐसा और कहीं नहीं देखा – ऐसा पवित्र अतिथि सत्कार अन्य किसी को करते नहीं देखा है। इस जीवन में अनेक घरों में अतिथि हुआ हूँ, बहुत दिन भूखा भी रहा हूँ – बहुतों ने यह सुनकर अन्न दिया है – पर इतना स्नेह मुझे अन्यत्र कहीं भी नहीं मिला। वह कितना अद्भुत था!

थोड़ा-सा लेकर खाया और फिर कहा – "बच्चों के लिए रख दो, रोटी बनने पर वही खाऊँगा। दो दिन का भूखा होने से ही क्या अधिक खाया जा सकता है, भूख दुगनी लगती है? बाद में भूख मर जाती है, ज्यादा नहीं खाया जा सकता। विशेष कर जिनके शरीर में पित्त प्रबल है, उन्हें पित्त हो जाता है। बाकी लोग हो सकता है अधिक खा सकें। पर मुझे भूख से कहीं अधिक शारीरिक दुर्बलता है। भोजन करते ही ठीक हो जायेगा। तुम व्यग्र मत होओ।" आदि।

वह बोली – "नहीं, नहीं, बच्चों के लिए रोटियाँ रख दूँगी, भूख लगने पर वही खायेंगे। यह सब तुम खा डालो, रसोई में अभी भी देर है। क्या करूँ और आटा नहीं है, नहीं तो तुम्हारे लिए तत्काल दो रोटियाँ सेंक देती। दो दिनों से तुम्हारा खाना नहीं हुआ, अहा, कितने कष्ट की बात है!"

उसकी आँखों में आँसू भर आये। पति के आने पर दुःख व्यक्त करते हुए बोली – "देखो, कितना कष्ट है! भगवान के लिए कितना कष्ट उठाना पड़ता है।"

पति ने कहा – "कष्ट सहे बिना क्या भगवान मिलते हैं! इन लोगों का यही तो जीवन है। कभी अन्न मिलता है, कभी नहीं। उस स्वामीजी की याद है न, जो चार-पाँच दिन से जंगल में भूखे पड़े थे। (मेरी ओर उन्मुख होकर) क्या आप उन्हें जानते हैं महाराज, आपकी ही भाँति वे ही पहाड़ों में घूमते थे, बड़े सिद्ध – चमत्कारी पुरुष थे।"

इतने में सूचना आई कि प्रसाद तैयार है। वे लोग बहुत-सा आटे का हलुआ और रोटियाँ लाये थे। सोचा था खूब खाऊँगा, पर ज्यादा न खा सका। पेट से गड़गड़ की आवाज आने लगी। गृह-स्वामिनी अनुरोध तथा अनुनय करने लगी कि कम-से-कम हलुआ तो पूरा खा लूँ। मेरे असमर्थता जताने पर कहा – "ठीक है, तो फिर तुम्हारे लिए बाँध देती हूँ। भूख लगने पर खाना।" मैं – "उसकी जरूरत नहीं, कल की कल देखी जायेगी।"

ब्राह्मण लोग भोजन करके अपने गाँव लौटने को तैयार हुए। मैंने पूछा – "गाँव कितनी दूर है?" बताया – "बस एक मील है। यहाँ से सीधा रास्ता है।" संध्या प्रायः हो चुकी थी उसी गाँव में जाने को प्रस्तुत हुआ। गृह-स्वामिनी किसी भी प्रकार छोड़ने को राजी नहीं थी, बोली – "नहीं, आज रात यहीं आराम करो। कल चले जाना।"

मैं बोला – "तुम लोगों के इस छोटे कमरे के सिवा और कुछ तो दिखता नहीं। तुम चार जने हो और नीचे भेड़-बकरियाँ हैं। मैं तो तुम लोगों के साथ इस कमरे में नहीं रह सकता। गाँव पास ही है और समय भी है, इसलिए मुझे जाने दो। प्रभु तुम्हारा मंगल करें, तुम लोग सदा सुखी रहो – मेरी यही प्रार्थना है। अब मुझे जाने दो, माँ।"

वह बोली – "तुम स्वाधीन संन्यासी हो, पर रहने से अच्छा होता, तुम्हारी थकान दूर होती और तुम्हारे पैरों की जो दशा है! हम बच्चों को लेकर बाहर सो जाते। (पति से) क्यों जी, क्या कहते हो?" पति ने भी कहा – "इसमें क्या है! स्वामीजी, आज रात रह जाओ न।"

मैं बोला – "यह कैसे हो सकता है! तुम लोग छोटे-छोटे बच्चों को लेकर बाहर पड़े रहोगे और मैं भीतर रहूँगा? धीरे-धीरे चला जाऊँगा। चाँदनी रात है और बस मील भर ही तो जाना है!" वह बोली – "तुम स्वाधीन संन्यासी हो, जब तुम्हारी यहाँ रहने की इच्छा ही नहीं है, तो जाओ, अब देर मत करो। लेकिन कभी हमारे गाँव आना, उस गाँव से पूर्व की ओर तीन कोस दूर है। रास्ता अच्छा है। तुमको आलू-प्याज की तरकारी और दूध-दही खूब खिलाऊँगी। भगवान की कृपा से हमें कोई कमी नहीं है, एक बार जरूर आना।"

गौरी के देश के इस पवित्र धार्मिक दम्पति के अद्भुत स्नेह तथा सेवा-परायणता की बात सोचते-सोचते गाँव की ओर चल दिया। जीवन-दान तो इन्हीं लोगों ने दिया। इसमें ईश्वर का हाथ देखूँ या अपनी ही भाँति देहधारी इस पहाड़ी दम्पति का। अहा, पार्वती की इन कन्याओं में कितना स्नेह, कितना सुन्दर भाव है, इनका मन इतना पवित्र और सेवा-भाव से पूर्ण है। इसीलिए क्या साधुगण उत्तराखण्ड, उत्तराखण्ड किया करते हैं और इसीलिए क्या उनमें इस अंचल के प्रति इतना आकर्षण होता है? सुना था – उत्तराखण्ड में देवी-देवता निवास करते हैं – तो क्या ये ही वे देवी-देवता हैं? सचमुच यह पार्वती देवी और उसका पति देवता है। प्रत्यक्ष देवी-देवताओं को छोड़ लोग काल्पनिक देवी-देवताओं को

ढूँढ़ते रहते हैं। इनका दर्शन करके मेरा जीवन धन्य हुआ। अहा, क्या ही सुन्दर भाव है इनका ! इस विषमय संसार में मनुष्य को यदि कभी अमृत का स्वाद मिलता है – तो क्या इस प्रेम-स्नेह और सेवा के अन्दर ही नहीं मिलता? मनुष्य में जीवन के प्रति यदि कोई आकर्षण है, तो उसका मूल हेतु क्या यही नहीं है? Biologist (जीव-विज्ञानी) कहेंगे Sex-attraction (यौन-आकर्षण) ही प्रधान है और बाकी सब बाद में। पशुओं में यह भले ही सच हो, पर मनुष्य में वह आकर्षण ठीक वैसा नहीं है, बल्कि किंचित् परिवर्तित रूप में अभिव्यक्त होता है। स्त्री के प्रति पुरुष का जो आकर्षण है, वह सेक्स के कारण नहीं है। भाई-बहन में जो प्रेम होता है या निकट सम्बन्धियों में जो आपसी प्रेम दीख पड़ता है, वही इसका प्रमाण है। पशुओं में यह बुद्धि नहीं होती।

धन्य हो तुम, पार्वती ! तुमने मुझे अपने स्नेह-बन्धन में बाँधकर सदा के लिए दास बना लिया। लगता है यह ऋण कभी चुका नहीं सकूँगा, मुझे नहीं लगता कि इस शरीर में रहते मुझमें कभी वह सामर्थ्य आयेगी, क्योंकि जीवन की गति पर अब मेरा कोई अधिकार नहीं है। केवल 'शब्द' द्वारा सेवा की तुम लोगों को कोई आवश्यकता नहीं है और मैं भी अर्थ-शून्य शाब्दिक सेवा में विश्वास नहीं करता। तुम लोगों को जिस सेवा की जरूरत है, उसे करने की शक्ति मेरे पास आज भी नहीं है। यदि यह शरीर रहे और कभी वह शक्ति हो, तो जी-भरकर तुम लोगों की सेवा करके निश्चय ही इस जीवन का ऋण चुकाऊँगा।

गाँव के निकट एक प्रौढ़ महिला और एक युवक प्याज के खेत में काम कर रहे थे। मुझे देखकर प्रौढ़ा ने युवक को कुछ आदेश दिया। युवक बोला – "महाराज, माँ आपको थोड़े प्याज देना चाहती है। ले जाओ, सब्जी बनाने के काम आयेगी।" मैंने कहा – "भाई, मैं खुद पकाता ही नहीं, तो फिर प्याज लेकर क्या करूँगा।" उसने फिर कहा – "आज रात को तो यहीं रहोगे न, तो चलो हमारे घर। माँ, प्याज की सब्जी और पराठे बनायेगी, खूब मजे से खायेंगे।"

वे लोग साथ में मुझे भी अपने घर ले गये। चाँदनी रात थी। बाहर आसन लगाकर बैठा। गाँव काफी बड़ा था। मन-ही-मन सोच रहा था कि यदि थोड़ी-सी दही मिल जाती, तो अच्छा होता, क्योंकि दो दिन के उपवास से पूरा शरीर-तंत्र गरम हो गया था, पेशाब बन्द हो गया था, इसलिए नदी या झरने के पानी में बैठकर ठण्डा होने के बाद ही पेशाब कर सकता था, इसलिए लगा कि यदि थोड़ी दही मिले तो ! खाते समय देखा आध सेर दही, प्यांज की सब्जी और पराठा दिया है। माँ की दया अपरम्पार है। बड़े तृप्ति से खाया। वहाँ ठीक से खा नहीं सका था, यहाँ दही होने से खूब खाया। रात को नींद होने से सुबह शरीर काफी स्वस्थ लग रहा था।

विदा लेकर चला टिहरी के पथ पर। दोपहर के दो बजे एक गाँव में पहुँचा। देखा – सब खेत में काम करने चले गये थे। एक घर के आँगन में सिर्फ एक बुढ़िया बैठी थी। मुझे बुलाया – "भिक्षा हुई है, महाराज !" – "नहीं, बूढ़ी माँ।" – "सब खेत गये हैं, शाम को लौटेंगे। घर में चूल्हा नहीं जला है। थोड़ा-सा आटा ले जाओ और उस मकान में चूल्हा जल रहा है, वहीं रोटियाँ बना लेना। इस समय के लिए कुछ आधार हो जायेगा। और रात को यहीं खाना।" यह कहकर प्राय: आध सेर आटा और थोड़ा नमक दिया। (गरीब पहाड़ी लोग प्राय: प्रतिदिन नमक-रोटी ही खाते हैं)।

उस मकान में मेरा स्वागत हुआ। बताया कि मैं उनके चूल्हे पर रोटी सेंकना चाहता हूँ। उनके पास कोई पात्र नहीं था, तवा भी नहीं था। रोटी किस तरह सेंकता ! एक टूटे हुए मिट्टी के तेल के डिब्बे का टुकड़ा पड़ा था। उसी को रेत से रगड़कर साफ किया। अँगोछे में आटा साना। आधा अँगोछे में ही में लगा रहा। हम दोनों ही खूब हँसने लगे।

इससे पहले मैंने कभी रोटी नहीं बनाई थी, हाथ से दबा-दबाकर किसी प्रकार चपटा किया और हर रोटी एक अदभुत आकार की बनी। उस टीन के टुकड़े को तवा बनाकर रोटियाँ सेंकी। मेरा यह कार्य देखकर वह खूब हँसने लगा। परन्तु मुझे बड़ी भूख लगी थी। खाने को बैठ ही रहा था कि एक पहाड़ी आया और वह भी मेरा कार्य देख हँसने लगा।

उसने पूछा – "स्वामीजी, रोटी किससे खाओगे।" मैं – नमक से।" पहाड़ी – "थोड़ा ठहरो, मैं धनिये-पत्ती की चटनी बनाकर लाता हूँ।" हरी मिर्च और धनिये-पत्ती की चटनी के साथ चार-पाँच रोटियाँ खा गया। अहा, उसका स्वाद आजीवन नहीं भूल सकूँगा – मानो अमृत था।

टिहरी यहाँ से मात्र एक मील है। टिहरी के लिए चल पड़ा। इतने पास पहुँचकर गाँव में रात बिताने का धैर्य नहीं रहा। अब भी थोड़ी रोशनी है। निकट ही काफी नीचे गंगाजी की दो धाराओं के बीच चित्र के समान सुन्दर टिहरी शहर है। चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ हैं। एक ओर के पहाड़ के शिखर पर सफेद चमकती हुई तुषार-माला मुकुट की भाँति शोभा पा रही थी। अपूर्व – मनोरम दृश्य है। प्राणों में एक अपूर्व आनन्द होने लगा। एक पत्थर पर बैठकर जी-भरकर वह दृश्य देखता रहा। नयनों को तृप्ति ही नहीं हो रही थी। सोच रहा था – "मन ! यही वह टिहरी है, जिसके लिए तुमने इतना कष्ट पाया है। यह वही टिहरी है, जहाँ आने के लिए तुम्हे मृत्यु का सामना करना पड़ा है। आँखें भरकर देख लो। कौन जाने, वहाँ रहने की जगह मिलेगी भी या नही ! अन्न भी मिलेगा या नहीं ! अस्तु, तुम्हारी आकांक्षा पूरी हुई। बाकी, माँ की जो इच्छा है, वही होगा।"

❖ (क्रमशः) ❖

दैवी सम्पदाएँ - भूमिका (१)

भैरवदत्त उपाध्याय

दैवी सम्पत्तियाँ मोक्ष के लिए और आसुरी सम्पत्तियाँ बन्धन -कारी हैं - **दैवी सम्पद् विमोक्षाय, निबन्धाय आसुरी मता ।**

गीता के १६वें अध्याय में दैवी और आसुरी सम्पत्तियों का वर्णन है । इसका उद्देश्य व्यक्ति को मोहपाश से मुक्ति-प्राप्ति के मार्ग का निर्देशन है । इसमें अतिशयोक्ति नहीं है कि ये दैवी सम्पदाएँ सार्वजनिक सत्य की विभिन्न अभिव्यक्तियाँ हैं । इनके बिना मानव स्व-कल्याण तथा विश्व-कल्याण नहीं कर सकता । मानव-जाति को गीता की यह महत्त्वपूर्ण देन है ।

भारतीय धर्म, साहित्य तथा संस्कृति के आँगन में गीता तुलसी का बिरवा है । आस्था और विश्वास का प्रतीक है । मूर्तिमान् श्रद्धा है । जीवनाधार प्राण है । इसका महत्त्व केवल इसलिए नहीं है कि वह स्वयं भगवान श्रीकृष्ण के मुखपद्म से निकली है, अपितु इस कारण भी है कि ज्ञान के क्षीर-सागर को मथकर निकाला गया नवनीत इसमें सँजोया हुआ है । गीता न शुष्क ज्ञान का सैद्धान्तिक विवेचन, न खण्डन-मण्डन पर आधारित तर्क-जाल और न पाण्डित्यमयी भाषा का प्रदर्शन ही है । जीवन की प्रयोगशाला में अनुभव सिद्ध प्रयोगों को इसमें सरस तथा सरल भाषा में वैज्ञानिक पद्धति से प्रस्तुत किया गया है । इसीलिए आज के परम भौतिकवादी युग में भी इसकी प्रासंगिकता उतनी ही है, जितनी महाभारत काल में रही होगी ।

आज भी जीवन के कुरुक्षेत्र में खड़ा हुआ मानव-अर्जुन समस्या-कौरवों से घिरा है । उनसे जूझने का साहस उसमें नहीं है । वह पूर्णत: टूटकर क्लीब बन चुका है, विषाद में डूबा है, मोह मे आसक्त है, अहंकार से ग्रस्त एवं अनिश्चय से परिवृत्त है, तथापि मिथ्याबाद का कवच पहने है और प्रज्ञावाद की कृपाण से ज्ञानियों के छक्के छुड़ाना चाहता है । वह जीवन की हर सच्चाई से पलायन करने को आमादा है । आत्मघाती प्रयत्नों में जुटा है और असुरत्व की निम्नाभिमुखी धारा में शववत् प्रवाहित है । इस स्थिति में गीता-रूपी अचूक औषधि-मंत्र-सम्बल या शक्ति ही उसे इस भीषण संकट से उबारने में सक्षम है । वही उसे जीवन-संघर्ष के लिए पौरुष दे सकती है, उसके विषाद-हताशा को योग के रसायन में रूपान्तरित कर उसमें जिजीविषा के अपराजेय विश्वास का संचार कर सकती है, जिससे वह उन समस्या-कौरवों को जीत आजीवन परम सुख का - ब्राह्मीभाव का आस्वाद कर सकता है ।

गीता जीवन का गीत, अमरता का संगीत, आशा का दीप, ज्ञान का आलोक, कर्म का राजमार्ग, भक्ति का विटप और निर्भीकता, पौरुष तथा धैर्य का सम्बल है । वह जटिल धार्मिक प्रक्रियाओं का विधान नहीं करती, बाह्य आडम्बरों और पाखण्डों का समर्थन नहीं करती और सहज सनातन मार्ग से भिन्न कोई अभिनव पन्थ खड़ा नहीं करती । उसमें क्लेशकर कठोर साधनाओं की पक्षधरता नहीं है और किसी ओर से अतिवाद का विसंवादी स्वर भी प्रतिध्वनित नही होता है । वह तो समन्वय व मध्यम-मार्ग की संस्तुति करती है । वह जीवन की युद्धभूमि में कर्म-योग का शंखनाद है । वह मोह व आसक्ति से उत्पन्न असन्तुलन का विरोध कर अन्त:करण की शुद्धता और साधनों की शुचिता के साथ कर्तव्य की प्रेरणा देती है । कर्म-संन्यास के स्थान पर कामनाओं के त्याग को श्रेष्ठ मानती है । सम्पूर्ण समर्पण को उत्प्रेरित कर समग्र जीवन को यज्ञमय बनाने का सन्देश देती है । वह श्रेय और प्रेय के मार्ग को प्रशस्त करती है । इसीलिए अनेक आचार्यों तथा मनीषियों ने इसका स्तवन किया है । सन्त विनोबा ने लिखा है - "मेरा शरीर माँ के दूध पर जितना पला है, उससे कहीं अधिक मेरे हृदय और बुद्धि का पोषण गीता के दूध पर हुआ है ।" गाँधीजी ने लिखा था - "निराशा के घने अँधेरे में जब मैं अकेला तथा असहाय हो जाता हूँ और प्रकाश की एक भी किरण नहीं देख पाता हूँ, तब मैं भगवद्गीता की शरण में जाता हूँ । उसे उलट-पलटकर एक श्लोक पढ़ता हूँ और गहन दुखों के क्षणों में भी मैं तुरन्त मुस्कुराने लगता हूँ । मेरा जीवन बाह्य दुखों से भरा हुआ है, फिर भी मुझ पर उन दुखों का गोचर तथा अमिट प्रभाव नहीं पड़ सका है । इसका एकमात्र कारण मैं गीता के उपदेशों को ही मानता हूँ ।" आचार्य शंकर ने इसका किंचित् अध्ययन ही गंगाजल की लघु-कणिका के पीने से प्राप्त होनेवाले पुण्य के समान कहा है - **भगवद्गीता किंचिदधीता गङ्गा-जल-लव-कणिका पीता ।**

गीता उपनिषद् अर्थात् गुह्यतम शास्त्र है - **इति गुह्यतमं शास्त्रम् ।** (१५/२०) इसके ज्ञाता परमगुरु श्रीकृष्ण हैं और अर्जुन प्रपन्न जिज्ञासु तथा विनीत शिष्य हैं । समस्त उपनिषद्-रूपी कामधेनुओं को दूहनेवाले गोपाल-नन्दन श्रीकृष्ण हैं और इस गीतामृत रूपी दूध को पीनेवाले बछड़े सुधी अर्जुन हैं -

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल-नन्दन: ।
पार्थो वत्स: सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत् ।।

यह ब्रह्मविद्या है, ब्रह्मवल्ली है, योगविद्या है, ब्रह्मरूपी परम विद्या है । ईश्वर इसी का आश्रय लेकर तीनों लोकों का पालन करते हैं । प्रभु ने इसे अपना हृदय कहा है - गीता मे हृदयं पार्थ । इसमें साध्य व साधन - दोनों का निरूपण है । इसके हर अध्याय में योग है । अट्ठारह अध्यायों मे कुल अट्ठारह योग है । प्रथम अध्याय में यदि विषाद-योग है, तो सोलहवें अध्याय में दैवासुर-सम्पद-विभाग-योग तथा अन्तिम अध्याय में मोक्ष-

संन्यास-योग है। योग जीवन की तात्त्विक दृष्टि है। इसके अभाव में जीवन दुखमय, अनावश्यक भार, अभिशाप और विषाद का पर्याय है। जब हमारी अन्तरात्मा उच्चतर सत्ता से जुड़ जाती है, क्षर-तत्त्व अक्षर-तत्त्व में और अक्षर-तत्त्व पुरुषोत्तम में रूपान्तरित हो जाता है, तब विषाद विषाद न रहकर योग बन जाता है। वैसे ही दैवी और आसुरी सम्पदाओं का सामान्य निरूपण हमारी क्षर चेतना से सम्बद्ध है।

सामाजिक सन्दर्भ में गीता जीवन के दो मार्गों का निर्देश करती है। इनमें से एक है दैवी मार्ग और दूसरा है आसुरी या राक्षसी मार्ग; एक प्रकाश का, दूसरा अँधेरे का; एक उत्तरायण का, दूसरा दक्षिणायन का; एक देवयान का, दूसरा पितृयान का, एक पुण्य का, दूसरा पाप का; एक प्रेम का, दूसरा घृणा का; एक योग का, दूसरा भोग का; एक शान्ति का, दूसरा अशान्ति का; एक अहिंसा का, दूसरा हिंसा का; एक प्रवृत्ति का, दूसरा निवृत्ति का; एक जिजीविषा का, दूसरा मुमूर्षा का।

गीता (८/२३-२७) इन्हीं मार्गों को शुक्ल एवं कृष्ण गति की संज्ञाओं से भी अभिहित करती है। यह व्यक्ति की प्रकृति, उसके स्वभाव और उसकी नियति पर निर्भर है कि वह किसका चुनाव करता है, पर इतना निश्चित है कि अनार्य मार्ग पर प्रवृत्त होनेवाले जनों का कल्याण नहीं होता –

अनार्यजुष्टेन पथा प्रवृत्तानां शिवं कुतः !

'दैवासुर-सम्पद्-विभाग-योग' नामक सोलहवें अध्याय में अभय, सत्त्व-संशुद्धि, ज्ञानयोग-व्यवस्थिति, दान, दम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, अपैशुन, प्राणिदया, अलोलुपता, मृदुता, ह्री, अचंचलता, तेज, क्षमा, धृति, शौच, अद्रोह, और निरभिमानिता – इन छब्बीस दैवी-सम्पदाओं का वर्णन है। इनकी संख्या छब्बीस ही क्यों है? यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण नहीं है। दैवी गुणों की इस सूची को और बढ़ाया जा सकता है, पर सम्भव है गीताकार ने सांकेतिक रूप से इसे ही यथेष्ट माना हो। इनमें कोई सोपान-क्रम नहीं है। इसमें जिस प्रकार ऊपर चढ़ने के लिए बनाये गये जीने की सीढ़ियों का जो क्रम होता है, वैसा नहीं है। **ये तो समुद्र में बिखरे मोती हैं, आकाश में बेतरतीब छिटके तारे हैं और रत्नगर्भा वसुन्धरा में यत्र-तत्र दबे अनुपम रत्न हैं, जो आन्तरिक रूप से माला के मनकों के समान एक सूत्र में पिनद्ध हैं।** सम्भव है इनकी संख्या छब्बीस इसलिए हो कि दस इन्द्रियाँ, दस प्राण, (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) अन्तःकरण के ये चार घटक, जीवात्मा तथा परमात्मा मिलकर छब्बीस की संख्या पूर्ण करते हैं। पंचभूत, पंच तन्मात्राएँ, दस इन्द्रियाँ, त्रिगुण, मन, बुद्धि अहंकार – इनमें भी छब्बीस की संख्या बनती है। सांख्य दर्शन के चौबीस तत्त्वों में जीवात्मा और परमात्मा को परिगणित कर लेने पर छब्बीस की संख्या का समाधान हो जाता है। यह स्पष्ट किया जा चुका है कि यह संख्या मात्र सांकेतिक है। ये गुण और मूल्य हैं। इनमें से अभय, सत्त्व-संशुद्धि, ज्ञानयोग में व्यवस्थिति तथा न-अतिमानिता को साध्य-मूल्य और बाकी को साधन-मूल्यों के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

गीता का उद्देश्य है अर्जुन-रूपी मानव के शोक-मोहादि को दूर करना। शोक-मोहादि का कारण है अज्ञान। अज्ञान ज्ञान का अभाव है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ज्ञान है। इसे जान लेने के बाद कुछ भी ज्ञातव्य शेष नहीं रहता। अपरा प्रकृति क्षेत्र है और परा प्रकृति क्षेत्रज्ञ। शरीर क्षेत्र है और क्षेत्रज्ञ आत्मा। परमात्मा जो क्षेत्रज्ञ है, वह इन दोनों से परे पुरुषोत्तम-योग है। इसका अधिकारी-अनधिकारी कौन है? इसकी अपेक्षा से अधिकारी के विशेषणों के रूप में दैवी सम्पदाओं और अनधिकारी के लक्षणों के रूप में आसुरी गुणों का निरूपण इस सोलहवें अध्याय में हुआ है।

दैवी सम्पदाएँ तो छब्बीस हैं, जिनमें से प्रत्येक की विस्तृत चर्चा अलग-अलग की जायेगी। उनके अभावात्मक अथवा निषेधात्मक जो भी रूप हैं, वे सभी आसुरी गुण हैं। गीता में जिन आसुरी सम्पदाओं और प्रवृत्तियों का उल्लेख है, उनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है –

(१) आसुरी प्रकृति के लोग मूढ़ – मोहग्रस्त होते हैं। वे भगवान को मनुष्य रूप धारण करने पर उसी रूप में जानते हैं, उनके परम रूप को नहीं जानते। (९/१०)

(२) वे पतन की ओर ले जानेवाली आसुरी एवं राक्षसी प्रकृति धारण करते हैं। उनकी आशाएँ, कामनाएँ, कर्म, ज्ञान – व्यर्थ होते हैं तथा वे चंचल प्रवृत्ति के होते हैं। (९/१२)

(३) वे यह नहीं जानते कि किस कार्य में प्रवृत्ति की जाय और किस में नहीं। वे शौच और आचार को भी नहीं जानते। उनमें सत्य भी नहीं होता। (१६/७)

(४) वे जगत् को असत्य, निराधार और अनीश्वर मानते हैं। उनके अनुसार इस सृष्टि-चक्र में कोई कारण-कार्य-सम्बन्ध नहीं और इसकी उत्पत्ति का काम-वासना के अतिरिक्त अन्य कोई कारण नहीं है। (१६/८)

(५) वे नष्टात्मा उग्र कर्म करनेवाले होते हैं। नाश और अहित करना ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है। (१६/९)

(६) वे दुष्पूरणीय कामनाओं के चलते दम्भ-मद व मान से युक्त रहते हैं। उनका व्रत अपवित्र होता है और मोहवश वे असत् भोगों को भोगने में प्रवृत्त होते हैं। (१६/१०)

(७) वे मृत्यु होने तक असंख्य चिन्ताओं से घिरे रहते है। कामनाओं की पूर्ति करना ही उनके जीवन का लक्ष्य होता है, क्योंकि वे इसी को निश्चित सत्य मानते हैं। (१६/११)

(८) वे सैकड़ों आशाओं के पाश से बँधे होते हैं। काम और क्रोध में परायण वे अपनी इन्द्रियों के भोगों तथा अन्याय से अर्थ-संचय की कामना करते हैं। (१६/१२)

(९) वे निरन्तर यही सोचते हैं कि मैंने आज यह प्राप्त कर लिया, कल उसे प्राप्त करूँगा। इतना धन मेरे पास है, इतना फिर और हो जायेगा। (१६/१३)

(१०) मैंने अपने शत्रु को मार डाला है, कल दूसरों को भी मार डालूँगा, मैं ऐश्वर्यशाली, भोगों का भोक्ता, सिद्ध, बलवान, और सुखी हूँ। (१६/१४)

(११) मैं समृद्ध और कुलीन वंश का हूँ। मेरे जैसा दूसरा कौन है? मैं यज्ञ व दान करूँगा। मैं भोगपूर्वक आनन्द करूँगा – वे इसी प्रकार अज्ञान से विमोहित होते हैं। (१६/१५)

(१२) अनेक प्रकार से भ्रमों से भ्रमित चित्तवाले, मोहजाल में फँसे और कामनाओं की पूर्ति में लगे हुए वे अपवित्र नरक में गिरते हैं। (१६/१६)

(१३) वे अपने आप को अत्यन्त प्रतिष्ठित समझते हैं। वे जड़ धन, मान तथा मादक से प्रमत्त होते हैं। वे दिखावे के लिये अविधिपूर्वक यज्ञ आदि कर्म करते हैं। (१६/१७)

(१४) वे अंहकार, बल, दर्प काम और क्रोध का आश्रय लेते हैं। अपने तथा दूसरों के शरीरों में स्थित आत्म-रूप ब्रह्म से द्वेष तथा उसकी निन्दा करते हैं। (१६/१८)

(१५) वे मूढ़, दुष्कृति, नराधम, ब्रह्म-भाव को प्राप्त नहीं होते। माया के द्वारा उनका ज्ञान हर लिया जाता है और वे आसुर-भाव को प्राप्त करते हैं। (७/१५)

(१६) दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान – ये आसुरी सम्पत्तियाँ हैं, जिन्हें साथ लेकर ही असुर प्रवृत्ति के लोग जन्म लेते हैं। (१६/४)

असुर कौन है?

वस्तुत: मूल रूप में निरपेक्षभाव से असुर कोई नहीं है। असुरों की योनि, जाति, वर्ण, लिंग अथवा पद नहीं होते। उनका निर्धारण विचार तथा आचार से होता है। किसी भी व्यक्ति की श्रेष्ठता का मापदण्ड कुल-जाति-वर्ण-पद-शास्त्र-तप तथा यज्ञादि आदि कर्म नही हैं। रावण महा-पण्डित और तपस्वी था, यज्ञादि कर्म करता था, तथापि राक्षस था, क्योंकि उसें ज्ञान का अहंकार था, बल का दम्भ था और उसकी सारी शक्तियाँ परपीड़न में लगी थीं। उसके सभी शुभ-कर्म स्वार्थ तथा व्यक्तिगत लाभ की भावना से प्रेरित थे। उनमें सात्त्विकता नहीं थी, तमोमयता थी; इसीलिये वे शुभ होते हुए भी उसकी रक्षा नहीं कर सके, उसे पतन से बचाने में समर्थ नहीं हुए।

असुर कौन है? असुर वे हैं जो शास्त्र से अविहित घोर तपों को तपते हैं, दम्भ व अहंकार से युक्त हैं, काम, आसक्ति और बल से जो मोहित हैं, शरीरस्थ भौतिक तत्त्वों तथा भीतर स्थित आत्मरूप परमात्मा को कष्ट पहुँचाते हैं, उन्हें निश्चिल रूप से असुर समझना चाहिये। (१७/६) जो माता-पिता, गुरु, आचार्य तथा देवता के प्रति श्रद्धा नहीं रखते, उनकी सेवा नहीं करते, अपितु करवाते हैं, उन्हें उत्पीड़ित करते हैं, वे ही असुर हैं।

असुर अपने को असुर कब मानते हैं? अपनी प्रवृत्तियों को असत् कब कहते हैं? व्यक्ति का स्वभाव है कि वह दुर्गुणों को छिपाता और दूसरों पर आरोपित करता है। जब दुर्गुणों से उसका तादात्म्यीकरण हो जाता है, तब उसे अपने दुर्गुण ही गुण लगते हैं। ऐसी दशा में उसके उत्थान की सम्भावनाएँ क्षीण हो जाती हैं और वह उस दिशा में कोई प्रयत्न नहीं करता। निम्न से निम्नतर स्थिति की ओर अग्रसर होता जाता है।

उत्थान-पतन का मनोविज्ञान यह है कि हर व्यक्ति पूर्णता प्राप्त करना चाहता है, उसके लिए संघर्ष करता है और अपने अचेतन के प्रति क्रियाशील होता है। उसके अचेतन में कुछ आदर्श आद्य-प्रतिमाएँ (Archetypal Images) तथा प्रतीक होते हैं, वैयक्तिक अचेतन में गर्भित आदर्शों को प्राप्त करने में जब वह विफल होता है, तव उसकी चेतना अन्धकारावृत हो जाती है। उस तमोमय चेतना (Darker Self) में छाया-प्रतिमाएँ (Shadow Images) सक्रिय होती हैं, असुर, राक्षस, शैतान एवं इब्लिस – ऐसी ही छाया-प्रतिमाएँ हैं। इनसे भयभीत एवं पराजित होकर व्यक्ति इनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है और आसुरी प्रवृत्तियों में लग जाता है। इसके ठीक विपरीत जब वह इन्हें समझकर इन तामसिक प्रतीकों पर विजय प्राप्त करता है, तब वह सम्पूर्णता की ओर बढ़ता है।

गीता की मान्यता है कि व्यक्ति असत् कर्मों की ओर तब प्रवृत्त होता है, जब ज्ञान अज्ञान से आवृत्त हो जाता है। विवेक -हीनता की स्थिति निर्मित हो जाती है, भौतिक कामनाएँ व्यक्ति की चेतना को उपहत कर देती हैं और उनकी आसक्ति प्रबल हो जाती है, तब उनकी प्रतिपूर्ति के लिए व्यक्ति अज्ञानतापूर्वक कर्म करता है और उनके परिणामों को भोगता है। वैसे तो समस्त भाव परमात्मा से ही प्रवृत्त होते हैं, किन्तु वे व्यक्ति को उन्हें चुनने के लिए, कर्म के निष्पादन के लिए स्वतंत्रता प्रदान करते हैं। वे न तो कर्तृत्व, न कर्म और न कर्मफल के संयोग का सृजन करते हैं और न किसी उपाय के पाप-पुण्य को ग्रहण करते हैं। (५/१४-१५) व्यक्ति अपने स्वभाव के कारण ही इनमें प्रवृत्त होता है। जिसके हृदय में ज्ञान का प्रकाश फैल गया है, जिसके सकल कल्मष ज्ञानवारि से धुल गये हैं, जिसकी बुद्धि, मन और निष्ठा ब्रह्ममय है, जो परमात्मा की शरण में है, वे पुर्नजन्म के चक्र के मोहपाश से मुक्त हो जाते हैं। (५/१६-१७) जो अपने को त्रिगुणात्मक क्षर प्रकृति मान लेता है, उसकी आसक्ति सत्त्वादि गुणों में हो जाती है, भौतिक कामनाओं की परितृप्ति ही जीवन-यात्रा का लक्ष्य बना लेता है और स्वयं को कर्त्ता व भोक्ता समझता है। फलत: वह आजीवन दु:ख भोगता है, आसुरी सम्पत्तियों तथा अधम योनियों को प्राप्त करता है।

❖ (क्रमश:) ❖

संन्यासी का गीत

स्वामी विवेकानन्द

(स्वामीजी ने अमेरिका के सेंट लारेंस नदी के बीच में स्थित सहस्र-द्वीपोद्यान में आश्रम के समान एक निर्जन स्थान में अपने कुछ चुने हुए शिष्यों के साथ १८९५ ई. की ग्रीष्म ऋतु में १५ जून से ७ अगस्त तक सात सप्ताह साधना तथा उपदेश-दान में बिताये थे। उस काल के उनके उपदेश 'देववाणी' ग्रन्थ में निबद्ध हैं। जुलाई में एक दिन अपराह्न के समय स्वामीजी त्याग की महिमा तथा गैरिक-धारण में निहित आनन्द तथा स्वाधीनता के बारे में बोलते हुए सहसा उठकर अपने कमरे में चले गये। कुछ देर बाद अंग्रेजी में यह कविता लिखकर बाहर आये और शिष्यों के समक्ष इसका पाठ किया। उनकी इस सुप्रसिद्ध कविता 'The Song of the Sannyasin' में मुख्य रूप से वेदान्त में कथित साधना तथा जीवन्मुक्ति की अवस्था का अपूर्व निरूपण है। सर्वप्रथम यह आंग्ल 'ब्रह्मवादिन्' पत्रिका के सितम्बर १८९५ अंक में प्रकाशित हुई। इसके बँगला भाषान्तर से स्वामी विदेहात्मानन्द जी द्वारा किया गया यह हिन्दी गेय अनुवाद 'विवेक-ज्योति के सितम्बर '९३ अंक से पुनर्मुद्रित किया जा रहा है। इसमे विशेष यह है कि इसे धानी, शंकरा या हिदोल रागो में कहरवा ताल के साथ गाया जा सकता है। – सं.)

छेड़ दो संन्यासी वह तान,
हिमालय से उत्थित जो गान।
गुँजा डालो इस ध्वनि से व्योम,
ॐ तत्सदोम् ॐ तत्सदोम्।।

गहन वन विजन पहाड़ प्रदेश,
जहाँ ना पाप ताप का लेश।
ध्वनित हो तव प्रशान्त संगीत,
जगत् के कोलाहल हों भीत।।

काम-कंचन या यश की प्यास,
फटकती हो ना जिसके पास।
त्रिवेणी जहाँ सत्-चिद्-आनन्द,
स्नान करते शुभ सज्जनवृन्द।। गुँजा.।।

तोड़ डालो निज शृंखल-मोह,
स्वर्ण-निर्मित हो अथवा लौह।
भला या बुरा, प्रीति या द्वेष,
त्याग सब द्वन्द्व दूर कर क्लेश।।

दास है दास कदापि न मुक्त,
प्रताड़ित होता अथवा भुक्त।
भले ही सोने की जंजीर,
तोड़कर वह बन्धन भी धीर।। गुँजा.।।

छलावा तिमिर व्याप्त सब ओर,
क्षीण आभा दुख देती घोर।
पिपासा जीवन की अतृप्त,
जीव को किये सदा आकृष्ट।।

खींचती रहती बिना विराम,
जन्म से मृत्यु, मृत्यु से जन्म।
विजय पा लो निज मन को जीत,
न हारो कभी, न होना भीत।। गुँजा.।।

तत्त्व यह जग में सर्वविदित,
कर्म के फल होते निश्चित।
पुण्य के मधुर पाप के तिक्त,
नहीं कोई भी नियममुक्त।।

कि जब तक नाम और आकार,
शृंखला सकते नहीं निवार।
सत्य है, तदपि सभी के पार,
आत्मा नित्यमुक्त अविकार।। गुँजा.।।

पिता माता सुत पत्नी मित्र,
सभी हैं मिथ्या स्वप्न विचित्र।
जानते नहीं लोग यह सत्य,
आत्मा लिंगविहीन अमर्त्य।।

नहीं कोइ पिता-पुत्र अरि-मित्र,
व्याप्त है आत्म-तत्त्व सर्वत्र।
एक अद्वैत अखण्ड अरूप,
'वही तुम हो' बिन संज्ञा-रूप।। गुँजा.।।

तत्त्व अद्वैत सभी में व्यक्त,
आत्मा ज्ञाता औ चिरमुक्त।
उसी के भीतर माया स्वप्न,
देखती नाना भाँति निमग्न।।

एक वह साक्षी मात्र अरूप,
प्रकृति-जीवों का लेता रूप।
'वही तुम हो' लो इसको जान,
अभय हो गाओ मधुमय गान।। गुँजा.।।

ढूँढते कहाँ मुक्ति आलोक,
इसी जग में अथवा परलोक।
पुस्तकों, मन्दिर में या चर्च,
तुम्हारी खोज रहेगी व्यर्थ ।।

तुम्हारे हाथों ही वह सूत्र,
खींचती है जो तुमको मित्र।
अत: कर खेद हृदय का नाश,
छोड़ दो अपना बन्धन-पाश ।। गुँजा. ।।

कहो 'सब लोग शान्ति में लीन,
और मुझसे भी हों भयहीन
सभी जो जीव - उच्च या निम्न,
व्याप्त मैं आत्मा रूप अभिन्न ।।

त्याग करता हूँ जीवन-स्वाद,
इसी जग का या इसके बाद।
स्वर्ग या नरक, सर्व भय-आस',
काट इस भाँति मोह के पाश ।। गुँजा. ।।

रहे जीवित या जाय शरीर,
करो परवाह न इसकी वीर।
पूर्ण हो चुका देह का कर्म,
करे प्रारब्ध अद्य निज धर्म ।।

करे चाहे कोई मालादान,
कि अथवा पदप्रहार अपमान।
वस्तुत: निन्दक निन्दित एक,
प्रशंसक और प्रशंसित एक ।।
करो इस भाँति स्वमन को शान्त,
छेड़ दो निज संगीत प्रशान्त ।। गुँजा. ।।

वहाँ होता न सत्य आभास,
जहाँ हो काम-लोभ-यश-आस।
पूर्णता कभी न आए पास,
नारि में जिसको पत्नी-भास ।।

अल्प भी जिसमें संग्रह-बोध,
कि अथवा जो करता हो क्रोध।
बन्द है उसका माया द्वार,
त्याग, पर तुम हो जाओ पार ।। गुँजा. ।।

करो मत अपने घर की साध,
नहीं गृह तुमको रखता बाँध।
गगन छत जान बिछौना घास,
खाद्य जो आए बिना प्रयास ।।

स्पर्श कर सके न आत्मा आद्य,
भला या बुरा, पेय औ' खाद्य।
निरन्तर चलते रहना बन्धु
नदी की भाँति, लक्ष्य हो सिन्धु ।। गुँजा. ।।

अल्प लोगों का सत्य उपास्य
शेष करते कटाक्ष व हास्य।
ध्यान मत देना उनकी ओर,
करो उन्मुक्त भ्रमण सब छोर ।।

हाथ दो सबको सेवायुक्त,
घोर माया से करने मुक्त।
न दुख से भय हो, ना सुख आस,
उभय को पार करो सायास ।। गुँजा. ।।

इस तरह कर्मशक्ति हो क्षीण,
आत्मा हो चिर बन्धनहीन।
रहित मैं-तुम, नर-ईश्वर भेद,
जन्म व मृत्यु चक्र को छेद ।।

सभी कुछ आत्मा की अभिव्यक्ति,
जगत सच्चिदानन्द की शक्ति।
वही तुम हो लो इसको जान
छेड़ दो अपनी निर्भय तान ।। गुँजा. ।।

छेड़ दो संन्यासी वह तान,
हिमालय से उत्थित जो गान।
गुँजा डालो इस ध्वनि से व्योम,
ॐ तत्सदोम् ॐ तत्सदोम् ।।

❑❑❑

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर

(अनेक वर्षों पूर्व विद्वान् लेखक ने 'विवेक-ज्योति' के लिए प्रेरक-प्रसंगों की एक शृंखला लिखी थी, जो बाद में पुस्तकाकार प्रकाशित होकर बड़ी लोकप्रिय हुई। अनेक वर्षों के अन्तराल के बाद उन्होंने अब उसी परम्परा में और भी प्रसंगों का लेखन प्रारम्भ किया है। – सं.)

(७) स्व ग्रामे पूज्यते प्रभुः

पण्ढरपुर में एक महा-एकादशी के दिन विजयनगर के राजा कृष्णदेव राय भगवान विट्ठल का दर्शन करने आये। पर वहाँ भक्तों की लम्बी कतार देख वे रुक गये। तब सैनिकों ने तलवार निकालकर उन सबको वहाँ से हटने का आदेश दिया। भीड़ के छट जाने पर राजा ने मन्दिर में प्रवेश कर भगवान के दर्शन किये। सहसा उनके मन में विचार आया कि यहाँ के लोग कितने भाग्यवान हैं कि वे जब-चाहे यहाँ आकर अपने इष्टदेव का दर्शन कर सकते हैं और मैं एक अभागा हूँ कि मुझे दर्शन करने के लिए इतनी दूर से आना पड़ता है। इसका एक ही उपाय है कि इस प्रतिमा को मैं विजयनगर ले जाऊँ। वे पुजारी से बोले, "यह मूर्ति यहाँ शोभा नहीं देती। मैं इसे अपने साथ राजधानी विजयनगर ले जा रहा हूँ। वहाँ इसकी साज-सज्जा देख लोग दाँतों-तले उँगली दबाएँगे।" और उन्होंने सैनिकों को प्रतिमा विजयनगर ले जाने के आदेश दिये।

दूसरे दिन पैठन-निवासी सन्त भानुदास वारकरियों के साथ नृत्य-गान करते हुए पण्ढरपुर के लिए निकले। रास्ते में वहीं से लौट रहे कुछ लोगों ने भानुदास को बताया, "आप पण्ढरपुर जाकर क्या करेंगे? प्रतिमा तो विजयनगर के राजा अपने साथ ले गये हैं।" सन्त ने इस पर कहा, "हमें पण्ढरपुर की बजाय अब विजयनगर की ओर प्रस्थान करना चाहिए।"

कुछ दिनों बाद जब भानुदास विजयनगर पहुँचे, तो वहाँ उन्होंने अपने इष्ट-देवता को एक बड़े भव्य मन्दिर में विराजमान पाया, पर उनकी आँखों से अश्रुधारा बह निकली। वे बोले, "प्रभो, आप हमसे रूठ क्यों गये, जो पण्ढरपुर छोड़कर यहाँ आ गये।" सन्त ने सहसा अपनी पीठ पर किसी के स्पर्श का अनुभव किया। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा, तो साक्षात विट्ठल देव को खड़े पाया। वे भानुदास से बोले, "तूने यह कैसे समझ लिया कि मैं यहाँ के ऐश्वर्य और वैभव से सन्तुष्ट हूँ? तुम पण्ढरपुर चलो, मैं वहीं वापस आ रहा हूँ।"

मन्दिर में मूर्ति को न देख पुजारी घबरा गया। राजा को तत्काल सूचना दी गई। राजा के पूछने पर पुजारी ने बताया – पैठन से कोई भानुदास यहाँ आये थे और तभी से प्रतिमा अपने स्थान पर नहीं है। राजा ने सैनिकों को भानुदास को पकड़ लाने का आदेश दिया। सन्त रास्ते में ही सैनिकों को दिखाई दिये। उन्होंने सन्त के हाथों में बेड़ी डालकर उन्हें राजा के पास ले आये। राजा ने सैनिकों से कहा, "लगता है यह कोई बाजीगर है और इसने अपनी विद्या से भगवान को छिपा रखा है। इसको इसकी सजा मिलेगी। इसे ले जाओ और सूली पर चढ़ा दो।"

राजा के मुख से ये शब्द निकलते ही बिजली कौंधी और भानुदास के हाथों की बेड़ियाँ टूट गई। यह चमत्कार देख राजा को बोध हुआ कि यह बाजीगर नहीं, बल्कि प्रभु का सच्चा भक्त है। उन्हें स्वयं पर ग्लानि हुई कि मैं भ्रान्तिवश अपने को प्रभु का भक्त मानता हूँ। क्या कोई भक्त दूसरे भक्त को कष्ट दे सकता है? उन्होंने सैनिकों को आदेश दिया कि इस प्रतिमा को तत्काल पण्ढरपुर ले जाकर पुनःप्रतिष्ठा की व्यवस्था की जाय। यह प्रतिमा वहीं शोभा दे सकती है, यहाँ नहीं।

(८) अधिकांश भयों का कारण है – गलतफहमी

एक बार मुल्ला नसीरुद्दीन संध्या के समय श्मशान के पास से गुजर रहे थे। थोड़ी दूर पर ही एक बारात भी ज़ा रही थी, जिसकी आतिशबाजी की आवाज सुनकर नसीरुद्दीन घबरा गये। उन्होंने सोचा कि शायद डाकुओं का काफिला इस ओर आ रहा है और वे दुबककर एक कब्र के पीछे छिप गये।

बारात के नजदीक आने पर चिरागों की रोशनी में एक बाराती ने देखा कि कोई व्यक्ति कब्र के पीछे छिपा हुआ है। उसने अपने एक साथी को भी बताया और दोनों तलवार लिये उस कब्र के पास आये। उन्होंने मुल्ला से पूछा कि वह कौन है और वहाँ क्यों छिपा हुआ है। उन्होंने डरते-डरते बताया कि आतिशबाजी की आवाज को बन्दूक की गोली की आवाज समझकर डाकुओं की आशंका से वे वहाँ डर के मारे छिप गये थे। मगर वे डाकू नहीं, बल्कि बराती हैं, यह जानकर अब उनका डर जा चुका है। बारातियों ने सुना तो वे हँसने लगे। तब नसीरूद्दीन बोले, "आप लोगों की समझ में कुछ आया?"

उनमें से एक ने जवाब दिया, "इसमें समझने की क्या बात है? हम दोनों को ही गलतफहमी हो गई थी। हम एक दूसरे पर शक कर रहे थे और यह शक अब दूर हो गया है।"

मुल्ला बोले, "आपने ठीक फरमाया। जब हम दूसरों से और दूसरे हमसे डरते हैं, तो डर के मारे हम एक-दूसरे को स्वच्छन्दतापूर्वक जीने नहीं देते। हम आशंका में जीते रहते हैं, मगर यदि हम बिना डरे, मुसीबत का सामना करने का निश्चय करें, तो असलियत सामने आ जाएगी और इस प्रकार हम गलतफहमी का शिकार होने से बच जाएँगे।" ❑❑❑

आप भी महान बन सकते हैं (१)

स्वामी सत्यरूपानन्द

सन्त गजानन महाराज अभियांत्रिक महाविद्यालय, शेगाँव (महाराष्ट्र) के अनुरोध पर १९९५ की जुलाई महीने में वहाँ के छात्रों के लिये अंग्रेजी में 'व्यक्तित्व विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर द्विदिवसीय कार्यशाला आयोजित की गई थी। स्वामी सत्यरूपानन्द जी ने स्व-संचालित कार्यशाला में जो व्याख्यान दिया, उसकी उपयोगिता को देखकर उक्त विद्यालय ने उसे 'You Can Be A Better Person' नाम से छोटी पुस्तिका के रूप मे प्रकाशित किया। यह पुस्तिका युवक-युवतियों में बहुत लोकप्रिय हुई तथा उसके कई संस्करण निकले। हिन्दी भाषी युवक-युवतियों को भी यह विषय सुलभ हो सके, इसलिये उसी आश्रम के अन्तेवासी स्वामी प्रपत्यानन्द ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। – सं.).

स्वयं उन्नत होओ !

जिस विषय पर हम चर्चा करने जा रहे हैं, जिस विषय की हम विस्तार रूप से चर्चा करना चाहते हैं, उसके लिए प्रस्तावना की आवश्यकता है। प्रस्तावना वह स्थान है, जहाँ हम अपने मूल सिद्धान्त की चर्चा कर सकते हैं।

हम सोचते कैसे हैं

जिस भाषा से हम परिचित होते हैं, उसी भाषा में हम अपने विचार अच्छी तरह से प्रस्तुत कर सकते हैं। वर्तमान में हम चिन्तन करने, चर्चा करने और अपने विचारों को व्यक्त करने के लिए हिन्दी भाषा का प्रयोग कर रहे हैं। इसलिए हम अपने विचारों का परस्पर विनिमय हिन्दी भाषा में ही करेंगे।

शीर्षक कहता है – आप भी महान बन सकते हैं। आपका व्यक्तित्व भी महान-से-महानतर हो सकता है। आइये देखें, महानतर का क्या अर्थ है? महानतर शब्द तुलनात्मक विशेषण है। अर्थात् यह वस्तु जिसके लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया है, वह पहली वाली वस्तु से थोड़ी अधिक अच्छी है, थोड़ी अधिक उपयोगी है, थोड़ी अधिक लाभदायक है, थोड़ी अधिक सुन्दर है।

अत: इस सन्दर्भ में महानतर का अर्थ – अर्थात् हम पहले जैसे थे, उससे थोड़ा और अधिक अच्छे होंगे। हम वर्तमान में जैसे हैं, उससे और अधिक परिष्कृत होंगे। हम वर्तमान की अपेक्षा और थोड़ा अधिक उपयोगी, योग्य एवं कुशल होंगे अर्थात् हमारा व्यक्तित्व वर्तमान की अपेक्षा प्रत्येक क्षेत्र में उससे अधिक अच्छा और उत्कृष्ट होगा।

मनुष्य की नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति ही मानवीय महानता की कसौटी है। इसलिए हमारी सभी महानताओं का मूल्यांकन हमारी आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति से होना चाहिए। जैसे-जैसे हम अधिक-से-अधिक नैतिक एवं आध्यात्मिक रूप से अपना विकास करने लगेंगे, वैसे-वैसे ही दिन-पर-दिन अच्छे-से-अच्छे बनते जायेंगे। अन्तत: जब हम पूर्ण रूप से नैतिक और आध्यात्मिक रूप से विकसित हो जायेंगे, तब हम अन्त में मनुष्यत्व का एक श्रेष्ठतम दृष्टान्त बन जायेंगे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महानता का अर्थ 'मनुष्य के दैवीय गुणों का सर्वांगीण विकास है', जो उसे अन्तत: दिव्यत्व प्रदान करता है। महानतर बनने का प्रयास करने का एक मात्र उद्देश्य है – 'मनुष्य की सोयी हुई दैवी शक्ति को पूर्णत: जागृत करना'।

सभी व्यावहारिक प्रयोजनों के लिए 'दिव्यता' का अर्थ है – 'मनुष्य के हृदय में छिपी हुई अनभिव्यक्त शक्ति को अभिव्यक्त करना, विकसित करना'। मनुष्य में अनन्त सम्भावनायें हैं। इसलिए 'दिव्यता का अर्थ है – मनुष्य के दैनन्दिन जीवन में अनन्त शक्ति का अनुभव करना एवं उसकी अभिव्यक्ति करना, उसका विकास करना।

ज्ञाता और ज्ञात

शीर्षक कहता है कि आप भी महान बन सकते हैं। आपका व्यक्तित्व भी महान-से-महानतर हो सकता है। अच्छा मित्रो! इस शीर्षक का क्या तात्पर्य है? इस शीर्षक में दो चीजें बिल्कुल स्पष्ट हैं –

१. आप एक महान व्यक्ति हैं।

२. आप इससे भी अधिक महान बन सकते हैं।

इसके बीच कुछ छिपा हुआ है। वह क्या है? वह यह है कि आप महान हैं। जब तक कोई वस्तु श्रेष्ठ न हो, तब तक वह श्रेष्ठतर कैसे हो सकती है?

व्यक्ति अर्थात् एक जीवित मनुष्य। एक मृत मनुष्य व्यक्ति नहीं हो सकता। इसलिए यह जानने के पूर्व कि हम कैसे एक महान व्यक्ति बन सकते हैं, हमें स्वयं जीवन के विषय में भी जानना होगा। क्योंकि हम सभी जीवित मनुष्य हैं।

जीवन क्या है?

आधुनिक युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द ने जीवन की परिभाषा दी है। वे कहते हैं – "दमनकारी परिस्थितियों के मध्य चेतना की उन्नति और विकास ही जीवन है।"

आइए, थोड़ी देर के लिए कुछ गम्भीर चिन्तन करें। स्वामी जी ने कहा कि जीवन चेतना है। चेतना के अतिरिक्त अन्य सभी वस्तुएँ परिवर्तनशील हैं, इसे ही संसार कहते हैं।

आइए, इन दोनों शब्दों चेतना और संसार को समझने का प्रयास करें। चेतना अपरिवर्तनशील एवं ज्ञानमय सत्ता है, अर्थात् जो चिरन्तन बना रहता है। उसे हम समभावी-शाश्वत अस्तित्व कहते हैं।

संसार सतत परिवर्तनशील है। यह कभी भी स्थिर नहीं रहता है। यह एक से दूसरी अवस्था में परिवर्तित होता रहता है।

मनुष्य शाश्वत एवं परिवर्तनशील सत्ता का समन्वय है, जिसमें परिवर्तनशील एवं शाश्वत तत्त्व सन्निहित हैं।

हम लोगों ने अब तक जो कुछ भी चर्चा की है, उसे दो शब्दों में कहा जा सकता है – १. ज्ञाता और २. ज्ञात।

क्योंकि मनुष्य चैतन्य है, इसलिए ज्ञाता है। स्मरण रखें कि ज्ञाता सदैव चैतन्य ही होता है।

संसार की अन्य सभी वस्तुएँ जो ज्ञाता द्वारा अनुभव की जाती हैं, वे ज्ञात हैं। वैसे ही ज्ञाता के अतिरिक्त अन्य सभी सांसारिक वस्तुएँ ज्ञात कही जाती हैं।

हम इस ज्ञात संसार के विषय में बहुत कुछ जानते हैं। अब दो तथ्य हमें सुस्पष्ट हैं – १. ज्ञाता का अस्तित्व है और २. संसार का अस्तित्व है।

हमारी समस्या

हमारी वर्तमान शिक्षा-पद्धति हमें संसार के विषय में अधिक-से-अधिक जानने के लिए सर्वदा प्रेरित और निर्देशित करती रहती है। लेकिन हमारा अनुभव कहता है कि इस संसार के बारे में सब कुछ जानना मनुष्य की सीमित क्षमता के द्वारा असम्भव है। मान लें, किसी व्यक्ति ने किसी प्रकार संसार का सब कुछ जान लिया, किन्तु स्वयं के विषय में कुछ भी नहीं जान सका, तो उस ज्ञान का क्या उपयोग है? अन्त में वह इस भूल से अवगत होगा कि सभी सांसारिक ज्ञान उसे एक श्रेष्ठतर व्यक्ति बनने में, एक महान व्यक्ति बनने में तब तक सहायता नहीं कर सकते, जब तक वह स्वयं को, अपने आप को जान नहीं लेता।

उदाहरणार्थ – मान लें, एक कम्प्यूटर इन्जीनियर 'कम्प्यूटर साइंस' के विषय में सब कुछ जानता है। वह संसार के किसी भी छोटे-बड़े कम्प्यूटर को बना सकता है और उसके सूक्ष्म यन्त्रों की मरम्मत कर सकता है। मान लें, उसके किसी मित्र ने उसकी आलोचना की। मान लें, उसके रक्त सम्बन्धियों ने ही उसे धोखा दिया। मान लें, उसके किसी निकट-प्रिय-व्यक्ति का निधन हो जाय और तब वह दुखी और निराश हो जाता है। वह यह नहीं जानता कि दुख एवं निराशा से कैसे छुटकारा पायें?

अब इस क्षेत्र में कम्प्यूटर सांइस के सब कुछ जान लेने का क्या लाभ हुआ?

मनुष्य का अनुभव यह बताता है कि जब तक मनुष्य स्वयं के विषय में नहीं जान लेता, तब तक वह दुख एवं निराशा से मुक्त नहीं हो सकता। वह कभी भी दुख के दलदल से अपने आपको बाहर निकालने में समर्थ नहीं हो सकता। क्योंकि जीवन-यात्रा में दलदल का आना अवश्यम्भावी है।

इसलिए महान व्यक्ति बनने के लिए सांसारिक, वैश्विक ज्ञान के साथ-साथ हमें कुछ स्वयं के बारे में जानना चाहिए। यदि हम स्वयं के विषय में कुछ नहीं जानेंगे तो संसार के अन्य समस्त ज्ञान हमें अन्ततः घोर अन्धकार, घने-अज्ञान और दु:ख में गिरा देंगे। सभी प्रकार के ज्ञानों का ज्ञान है, सभी ज्ञानों का परिपाक है – आत्मज्ञान। जब तक ज्ञाता स्वयं को पूर्णतः नहीं जान लेता, तब तक उसे पूर्ण सन्तुष्टि और तृप्ति नहीं प्राप्त हो सकती। वह कभी भी पूर्णता का बोध नहीं कर सकता। चाहे व्यक्ति को कितना भी सांसारिक ज्ञान क्यों न हो जाय, उससे कभी भी उसे आत्यन्तिक पूर्णता, आत्मतुष्टि नहीं मिल सकती।

ज्ञाता एक व्यक्ति है। यहाँ व्यक्ति से तात्पर्य पुरुष और स्त्री दोनों से है। इसलिए हमें व्यक्ति के बारे में स्वयं जानना है। व्यक्ति – जैसा कि स्वामी जी एक चैतन्य तत्त्व कहते थे। मैं एक मनुष्य हूँ, इसलिए मनुष्य के बारे में जानने का कार्य मैं स्वयं से ही प्रारम्भ करूँगा। यदि मैं स्वयं से पूर्णतः सुपरिचित हो जाऊँ, तब जान पाऊँगा कि मनुष्य क्या है। तभी मैं अपने को एक श्रेष्ठतर व्यक्ति बनाने में, स्वयं को महान बनाने में सक्षम हो सकूँगा। तभी मैं पूर्ण हो सकूँगा। एक श्रेष्ठतर व्यक्ति बनने के लिए हमें अपने शरीर के विषय में भी कुछ थोड़ा जानना चाहिए। किसी चिकित्सक के पास जाकर अपने शरीर के मूल तत्त्वों और उनकी क्रियाओं के बारे में जान लेना चाहिए और यह भी सीख लेना चाहिए कि अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए, संसार में कठोर श्रम करने के लिए कैसे शरीर को स्वस्थ एवं कार्यपटु रखें।

यह एक विशेषज्ञ का कार्य है, इसलिए हम इसकी विस्तार से चर्चा यहाँ नहीं करेंगे। किन्तु कुछ मूलभूत बातें ऐसी हैं जिसके लिए विशेषज्ञ-ज्ञान की आवश्यकता नहीं है तथा जिसे जानकर हम स्वस्थ एवं कार्यपटु रह सकते है।

❖ (क्रमशः) ❖

स्वामी विवेकानन्द की स्मृतिकथा

भगिनी देवमाता, अमेरिका

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने-वाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं। ये संस्मरण अनेक पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुए हैं और उनमें से कुछ का हिन्दी में भी प्रकाशन हुआ है। स्वामीजी की एक अमेरिकी महिला-भक्त के प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ में प्रकाशित हुए थे, वहीं से इसके अनुवादक हैं – स्वामी विदेहात्मानन्द। – सं.)

स्वामी विवेकानन्द के माध्यम से मेरा रामकृष्ण-भावधारा के साथ प्रथम परिचय हुआ था। यह उस समय हुआ था, जबकि मिशन ने अभी निश्चित आकार नहीं लिया था और बाद में हुए उसके सुदूर-व्यापी कार्यों के पूर्वाभास के रूप में मात्र संन्यासियों की एक टोली ही थी, जो मानो किसी निर्देश की प्रतीक्षा कर रही थी, तथापि उन्हें पूरा ज्ञात न था कि वे उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। कई वर्षों बाद उसी टोली के एक संन्यासी ने मुझे बताया था, "यदि हमें भविष्य में अपने सामने आनेवाले परिश्रम की कल्पना होती, तो हम लोगों ने अपनी शक्ति कठोर तपस्या में व्यय नहीं की होती, या फिर अपने शरीर को अनाहार तथा दीर्घ भ्रमणों के द्वारा इतना क्षीण नहीं किया होता। हमने सोचा था कि हमसे केवल इतनी ही अपेक्षा की जायेगी कि हमारे गुरुदेव ने हमें जो कुछ सिखाया है, हमें विनम्रतापूर्वक उसी का पालन करते हुए त्याग का एक सामान्य जीवन बिताना होगा।"

इसके परे भी कुछ है, इसका पहला संकेत भी मुझे उन्हीं संन्यासी से मिला, और वह थी एक शान्त वाणी, जिसे केवल स्वामी विवेकानन्द ने ही सुना था, उस समय जब वे हिमालय की गोद में सूखी टहनियों से निर्मित एक साधारण-सी कुटिया में मरणासन्न पड़े थे। उस वाणी ने कहा था – "अभी तुम्हारी मृत्यु नहीं होगी। तुम्हें दुनिया में एक महान् कार्य सम्पन्न करना है।" यह बात उन्होंने अपने साथ निवास कर रहे दो गुरुभाइयों को बतायी और उनमें से एक ने मुझे यह जानकारी दी थी। परन्तु वे लोग यह कैसे समझ सके थे कि वह अशरीरी वाणी एक भविष्य-वाणी है?

समय ने उस वाणी को सत्य प्रमाणित किया। उसका रूपायन अभी शुरू ही हुआ था कि मैंने अप्रत्याशित रूप से विश्व का आवर्तन कर रही स्वामीजी की परिधि का स्पर्श कर लिया। १८९३ ई. में शिकागो में होनेवाले उस विराट् मेले को देखते हुए मेरी माँ, बहन तथा मैंने जून का पूरा महीना बिता दिया था और जाड़ों में जापान तथा प्राच्य देशों की यात्रा करते समय, धर्म-महासभा देखने के लिए एक बार फिर वहाँ आने की योजना बना रहे थे। परन्तु परिवार में हुई एक मृत्यु ने ओहियो के एक छोटे नगर में ही हमें अपनी यात्रा रोक देनी पड़ी। हमारे वहाँ पहुँचने के शीघ्र बाद ही वहाँ के स्वीडेनबर्ग-चर्च के एक पादरी ने, हम अपरिचितों के प्रति सौजन्यता दिखाते हुए हमें अपने साथ निशा-भोज के लिए आमंत्रित किया। हम लोग गये। पादरी ने उत्साह से परिपूर्ण मुख-मण्डल के साथ द्वार पर ही हमारा स्वागत किया। वे हाल ही में धर्म-महासभा देखकर लौटे थे और उनके मुख से उसके अतिरिक्त दूसरी कोई चर्चा ही नहीं निकलती थी।

उन्होंने धर्म-महासभा के विविध प्रतिनिधियों को रेखांकित करते हुए उसमें होनेवाले विभिन्न अधिवेशनों का विस्तार से वर्णन किया। उन्होंने आगे कहा, "परन्तु उनमें से एक वक्ता ऐसा था, जो अपनी विद्वत्ता, अपनी वाग्विदग्धता तथा अपने प्रभावी व्यक्तित्व के कारण सर्वाधिक विलक्षण था। रोमन कैथॉलिक चर्च ने अपने सर्वश्रेष्ठ लोगों को वहाँ भेजा था और उनके दो या तीन उच्च्च अधिकारियों को छोड़ अन्य किसी के साथ उनकी तुलना नहीं हो सकती थी।" अपने उन तेजस्वी व्यक्ति का नाम या राष्ट्रीयता बताये बिना ही वे थोड़ा रुके। "कौन था वह?" – मैंने उत्सुकता के साथ पूछा। पादरी ने धीरे से कहा – "एक हिन्दू – स्वामी विवेकानन्द।"

मैं इस विषय में अपनी तीव्र रुचि दिखाने को तैयार थी, क्योंकि भारत की आध्यात्मिक शिक्षाएँ मेरे लिए अपरिचित न थीं। एडविन अर्नाल्ड द्वारा लिखित 'एशिया की ज्योति' नामक ग्रन्थ ने मुझे भगवान बुद्ध के जीवन तथा सिद्धान्तों के उदात्त सौन्दर्य से सुपरिचित करा दिया था। फिर मोहिनी चैटर्जी द्वारा अनुवादित गीता को मैंने बारम्बार पढ़ा था और उनके द्वारा उल्लेखित बाइबिल के सभी तुलनीय सन्दर्भों को देखा था और पिछले जाड़ों के दौरान मैक्स-मूलर द्वारा सम्पादित उपनिषदों के आंग्ल संस्करण के अध्ययन में काफी समय व्यतीत किया था। मेरे पास अब भी उस समय उपयोग में लायी हुई ग्रन्थ की वह जीर्ण-शीर्ण तथा रेखांकित प्रति विद्यमान है। इस प्रकार मेरे मन में क्रमागत रूप से प्राच्य भावधारा के साथ अनुकूलन हो रहा था।

शरद ऋतु में हम न्यूयार्क लौट आये। अपने व्यस्त कार्यक्रमों के साथ जाड़े का मौसम आरम्भ हो गया, परन्तु स्वीडेनबर्ग-चर्च के उन पादरी से हुई बातचीत की स्मृति मेरे मन में स्पष्ट बनी रही। एक दिन जब मैं मैडिसन एवेन्यू से होकर जा रही थी, तो देखा कि 'द हाल ऑफ युनिवर्सल

ब्रदरहुड' (सार्वभौमिक भ्रातृत्व के सभागार) की खिड़की में एक साधारण-सा विज्ञापन यह बता रहा था कि "अगले रविवार को अपराह्न में तीन बजे स्वामी विवेकानन्द वहाँ 'वेदान्त क्या है?' और उसके परवर्ती रविवार को 'योग क्या है?' विषय पर व्याख्यान देंगे।" समय होने के बीस मिनट पूर्व ही मैं सभागार में जा पहुँची। इसके पूर्व ही हॉल आधा से अधिक भर चुका था। यह बहुत बड़ा तो नहीं, परन्तु एक लम्बा-सँकरा कमरा था, जिसमें एक ही रास्ता था और वहाँ से दीवार तक बेंचें लगी हुई थीं। उसके दूसरे छोर पर एक नीचे-से मंच पर पढ़ने का एक डेस्क तथा एक कुर्सी रखी थी और उसके पीछे सीढ़ियाँ थीं। यह सभागार दूसरी मंजिल पर था और ये सीढ़ियाँ ही उसमें प्रवेश का एकमात्र मार्ग थीं – श्रोता तथा वक्ता दोनों को उन्हीं का उपयोग करना पड़ता था। तीन बजते-बजते पूरा हॉल, सीढ़ियाँ, खिड़कियों के चौखट तथा छज्जे – सब अपनी पूरी क्षमता से अधिक भर चुके थे। यहाँ तक कि बहुत-से लोग इस आशा के साथ नीचे खड़े थे कि शायद वे भी ऊपर हॉल में बोले जानेवाले शब्दों की क्षीण प्रतिध्वनि सुन सकेंगे।

तभी सहसा सन्नाटा छा गया, सीढ़ियों पर धीमी पदचाप सुनाई दी और स्वामी विवेकानन्द अपनी राजकीय भंगिमा के साथ रास्ते से होकर मंच पर जा पहुँचे। उन्होंने बोलना शुरू किया; और समय, स्थान, लोग आदि सब कुछ स्मृति-पटल से ओझल हो गया। शून्य में गूँजती एक वाणी के सिवा और कुछ भी नहीं बचा। मानो एक द्वार खोल दिया गया हो और मैं अनन्त उपलब्धि की ओर ले जानेवाली एक सड़क पर जा पहुँची हूँ। उसका दूसरा छोर दिखाई नहीं देता था, परन्तु उसका आभास वक्ता के विचारों से होकर प्रतिभात हो रहा था और उसके व्यक्तित्व से होकर दमक रहा था। वे – अनन्त के देवदूत वहाँ खड़े थे।

खाली हो चुके सभागार के सन्नाटे ने मुझे होश में ला दिया। केवल स्वामीजी तथा मंच के पास खड़े दो अन्य लोगों के सिवा बाकी सभी लोग जा चुके थे। बाद में मुझे ज्ञात हुआ कि वे थे स्वामीजी के निष्ठावान शिष्य श्री तथा श्रीमती गुडईयर। श्री गुडईयर सभाओं में उद्घोषक का कार्य करते थे। इसके बाद न्यूयार्क में दो बार में होनेवाले स्वामीजी के सभी कक्षाओं तथा व्याख्यानों में मैं उपस्थित रही, परन्तु कभी उनके साथ घनिष्ठ व्यक्तिगत सम्पर्क में नहीं आयी। लगता था कि हमारे बीच कोई एक अदृश्य बाधा थी। यह बाधा क्या संकोच या विचित्रता के भाव से उत्पन्न हुआ था, या फिर मेरी बड़ी बहन के पूर्वाग्रह के कारण? मेरे प्राच्य अध्ययन के विषय में उसके मन में जरा भी सहानुभूति न थी और वह प्राय: ही अपनी यह इच्छा व्यक्त करती थी कि मुझे 'अपने देश में ही मुक्ति का साधन मिल सकता है।'

प्रारम्भ में व्याख्यान ऊपर के कमरे में शुरू हुए और फिर दिन-पर-दिन भीड़ बढ़ते जाने के कारण सभा को शीघ्र ही निचली मंजिल में स्थानान्तरित करना पड़ा। बाद में उन्हें लम्बी पंक्ति में बने एक सरीखे दिखनेवाले सस्ते रिहायसी मकानों में से एक में जाना पड़ा। परन्तु उससे भी क्या, उस निर्धनोचित मकान में भी जो कक्षाएँ होतीं, उनमें वृद्ध तथा युवा, धनी तथा दरिद्र, विज्ञ तथा मूर्ख, ऐसे कृपण जो चन्दे के डिब्बे में चाहे तो एक बटन ही डालकर चल देते और ऐसे दाता जो एक या दो डालर भी दे जाते – इस प्रकार तरह-तरह के लोगों का समागम होता। हम वहाँ दिन-पर-दिन मिलते और बिना मिले-जुले या कुछ बोले ही मित्र हो गए। हममें से कुछ ने एक भी कक्षा नहीं छोड़ी। हमने भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का पाठ्यक्रम भी पूरा किया। हम एक साथ ही राजयोग तथा कर्मयोग के पथों पर चले। हमें खेद था कि चार योगों में ही सब समाप्त हो गया। उनकी संख्या छह या आठ होती, तो और भी अच्छा रहता, क्योंकि इससे कक्षाओं की संख्या भी बढ़ जाती।

ज्ञान के लिए हमारी तृष्णा असीम थी। हम लोग स्वयं को किसी विशेष ग्रन्थ या मतवाद में आबद्ध नहीं रखना चाहते थे। हम सबेरे उनका व्याख्यान सुनने जाते, अपराह्न में एक अन्य व्याख्यान में जाते और कभी-कभी एक तीसरे में भी हो आते। इसमें दर्शन, अध्यात्म तथा ज्योतिष – प्रत्येक विषय आ जाता था। इस प्रकार वैसे तो लगता कि हम लोग अपनी ज्ञान-स्पृहा को इधर-उधर बिखराये दे रहे हैं, तो भी हमारी वास्तविक श्रद्धा के केन्द्र स्वामीजी ही थे। हम समझ गए थे कि उनके अन्दर एक ऐसी शक्ति है, जो किसी अन्य धर्माचार्य में विद्यमान नहीं है। एकमात्र वे ही हमारे विचारों तथा विश्वास को गढ़ते जा रहे थे। इस बात को यहाँ तक कि मेरे आयरिश कुत्ते तक ने महसूस किया। जब-जब स्वामीजी उसके सिर पर हाथ रखते और कहते कि वह एक सच्चा योगी है, तो वह पूर्णत: स्थिर होकर खड़ा हो जाता और उसके पूरे शरीर में एक सिहरन दौड़ जाती।

विश्वस्तों की जो टोली स्वामीजी के व्याख्यान सुनने के लिए सर्वत्र घूमती रहती थी, वह जितनी आग्रही थी उतनी ही दृढ़निश्चयी भी थी। अवकाश का दिन होने या किसी अन्य कारण से स्वामीजी यदि कभी कक्षा बन्द रखने की बात करते, तो उसका सर्वदा ही तीव्र प्रतिवाद होता। किसी का कहना था कि वे स्वामीजी से शिक्षा पाने को ही विशेष रूप से न्यूयार्क आयी हैं और जितना भी मिल जाय, छोड़ना नहीं चाहती; कोई अन्य शीघ्र ही नगर के बाहर जानेवाला होता और स्वामीजी को सुनने का कोई भी मौका छोड़ना नहीं चाहता था। श्रोताओं से उन्हें छुट्टी नहीं मिलती थी। वे सुबह-शाम, दोनों समय शिक्षा देते। सर्वाधिक आग्रही लोगों में कुछ शिक्षक थे,

जिनमें से प्रत्येक के हाथ में एक खाली नोटबुक रहती और स्वामीजी के बोलने के साथ-ही-साथ उनके द्रुतगति से नोट लेते समय पेंसिल चलने की आवाज भी सुनाई देती – कोई भी वाक्य अलिखित नहीं रह जाता; और मेरा विश्वास है कि उन दिनों यदि कोई न्यूयार्क के नव-चिन्तन, दर्शन या दिव्य-विज्ञान के केन्द्रों में भ्रमण करता तो उसे कमो-बेश मिश्रित रूप में सर्वत्र योग तथा वेदान्त की ही चर्चा सुनाई देती।

१८९५ ई. के शीतकाल की समाप्ति और पूरे वसन्त ऋतु के दौरान एक के बाद एक विषय पर अविराम चलनेवाली स्वामीजी की कक्षाओं ने प्रबल उत्साह का सृजन किया। हम लोग अपनी रुचि को अब और बाँटकर नहीं रख सकीं। वह पूरी तौर से स्वामीजी द्वारा दिये जानेवाले सन्देश पर ही केन्द्रित था। वही हमारें दैनन्दिन जीवन का आधार और आगे बढ़ने के लिए प्रेरणा-बिन्दु बन गया था। कई महीनों तक लगातार कक्षाओं-पर-कक्षाएँ चलती रहीं, व्याख्यानों-पर-व्याख्यान होते रहे। अब केवल एक ही अन्तिम कक्षा तथा एक ही अन्तिम व्याख्यान बाकी रह गया था। फिर वह अन्तिम कक्षा भी समाप्त हुई और हम लोग दुखी मन से अपना विदाई भेंट दरवाजे के पास रखी डलिया में डालते हुए उस मलिन भवन से विदा हुए।

लेकिन तब भी रविवार का एक अन्तिम व्याख्यान बाकी था, जो मैडिसन स्क्वेयर के कान्सर्ट हॉल में होनेवाला था। मोटरगाड़ी प्रदर्शनी, साइकिल-दौड़, अश्व-प्रदर्शन आदि जिन कार्यक्रमों के लिए काफी जगह की जरूरत होती थी, उन्हें मैडिसन उद्यान में ही आयोजित किया जाता था। यह हॉल उक्त उद्यान के पीछे के भवन के दुमंजले पर स्थित था और काफी बड़ा था। उन दिनों वह भवन काफी विशाल प्रतीत होता था, परन्तु बाद में न्यूयार्क के निरन्तर विस्तार होते रहने के कारण इस भवन को गिरा दिया गया। यह कान्सर्ट-हॉल विभिन्न प्रकार के ग्ली-क्लबों, गायन-मण्डलियों तथा भाषणों के लिए उपयोग में लाया जाता था। कह नहीं सकती कि उस दिन हॉल में कितने लोग उपस्थित थे, पर उस अन्तिम व्याख्यान के दिन ऐसा हुआ कि लोग अँट नहीं रहे थे – हर कुर्सी और खड़े होने लायक प्रत्येक स्थान भर गया था।

जहाँ तक मुझे स्मरण आता है, उसी दिन स्वामीजी ने अपना 'मेरे गुरुदेव' शीर्षक व्याख्यान दिया था। मंच के एक छोर से जब उन्होंने प्रवेश किया, तो ऐसा लगा कि उनके भाव में परिवर्तन आ गया है। ऐसा लगा मानो उन्हें स्वयं पर ही विश्वास न हो और वे अनिच्छा के बावजूद इस कार्य में अग्रसर हो रहे हों। अनेक वर्षों बाद मद्रास में रहते समय मुझे इसका तात्पर्य समझ में आया और वह यह कि अपने गुरुदेव के बारे में बोलते समय उन्हें सर्वदा ही द्विधा का बोध होता था। दक्षिण भारत में अपने परिव्रज्या-कालीन भ्रमणों के दौरान, यह सोचकर कि मैं उनका कितना निकृष्ट प्रतिनिधि हूँ, वे उनका नाम तक बताने से मना कर देते थे। केवल मद्रास में ही, एक बार जब वे सहसा अपने गुरुदेव के एक चित्र के सम्मुखीन हुए, तो उनके होठों से ये शब्द फूट पड़े, "ये ही मेरे गुरुदेव श्रीरामकृष्ण हैं।" और उनके नेत्रों से अश्रु झरने लगे। इसी प्रकार उस दिन भी वे अनिच्छुक थे।

अस्तु। एक सुदीर्घ भूमिका के पश्चात् वे अपने विषय पर आ गए और इसके साथ ही वे बह चले। इस भावावेग के फलस्वरूप वे मंच के एक छोर से दूसरे छोर तक घूमते हुए बोलने लगे। प्रखरवाहिनी सरिता के समान तीव्र वेग से बहने वाली उनकी वाग्धारा तट को डुबाकर प्रवाहित होने लगी। विराट्-संख्यक श्रोताओं ने नीरवता के साथ श्रद्धापूर्वक इसे सुना और व्याख्यान के बाद बहुत-से लोग नि:शब्द उठकर चले गए। मैं स्वयं तो निश्चल हो गयी थी – जो अतीन्द्रिय चित्र मेरे मानस-पटल पर अंकित हुआ था, उसने मुझे पूर्णत: अभिभूत कर दिया था। उसी दिन मानो मुझे आह्वान मिला और मैंने उसका प्रत्युत्तर भी दिया।

इसी रविवार को स्वामीजी का पहला ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। कुछ समय से उनके पिछले रविवारों के व्याख्यान पुस्तिकाओं के रूप में प्रति रविवार को विक्रय के लिए मेज पर रख दिये जाते थे। अब 'कर्मयोग' पर उनकी पूरी वक्तृता-माला पतले कागज पर सघन अक्षरों में छपकर एक बड़ी पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई थी। बाद में उसके जो संस्करण निकले, पहला उनसे बिल्कुल भिन्न प्रकार का था। देखने में वह बड़ा सुन्दर तो न था; परन्तु जिन्होंने इसके लिए परिश्रम किया था, उन्हें इस पर बड़े गर्व का बोध हो रहा था।

इस सभा के परिपूरक के रूप में एक अन्य गृह-वक्तृता के बाद स्वामीजी का न्यूयार्क में कार्य समाप्त हुआ। जून में स्वामीजी अपने छात्रों की एक टोली के साथ सहस्र-द्वीपोद्यान गये और अगस्त में उन्होंने यूरोप की यात्रा की। अब श्रवण का समय समाप्त हो गया था और उन पर मनन तथा साधना करने का समय आ गया था। जब हम स्वामीजी की शिक्षाओं को याद करने तथा अपने दिन-प्रतिदिन के जीवन में ढालने का प्रयास करने लगे, तब हमें अधिकाधिक बोध होने लगा कि एक प्रबल धूमकेतु हमारी ओर के आकाश में प्रकट हुआ था, कुछ काल के लिए वह वहाँ प्रकाशित हुआ और अपने पीछे आलोक की एक पथरेखा छोड़ते हुए पुन: आगे निकल गया। उसकी आभा अब भी बनी हुई थी।

स्वामीजी के न्यूयार्क के व्याख्यानों एवं कक्षाओं में आने-वाले लोग शीघ्र ही एक लम्बी, दीर्घकाय तथा सम्भ्रान्त महिला से परिचित हो जाते, जो सर्वदा हर प्रकार के कार्यों में व्यस्त रहती थीं। शीघ्र ही हमें ज्ञात हुआ कि ये दर्शन तथा सांस्कृतिक विषयों की अच्छी ज्ञाता कुमारी एलेन वाल्डो हैं

और ये राल्फ वाल्डो इमर्सन की दूर की सम्बन्धी भी हैं। स्वामीजी ने उन्हें संस्कृत में 'हरिदासी' नाम दिया था। और यह नाम बड़ा उपयुक्त भी था, क्योंकि सभी जानते थे कि सचमुच ही वे 'भगवान की एक सेविका हैं' – वे अविराम व अथक भाव से सतत सेवा में लगी रहती थीं। वे (स्वामीजी के लिए) भोजन पकातीं, ग्रन्थों का सम्पादन करतीं, घर को स्वच्छ रखती, सुनकर लिखने का कार्य करतीं, अन्य लोगों को भी सिखातीं तथा व्यवस्थित करतीं, पुस्तकों के प्रूफ संशोधित करतीं और आगन्तुकों के साथ वार्तालाप करतीं।

न्यूयार्क में आने पर स्वामीजी को प्रचण्ड वर्ण-विद्वेष का सामना करना पड़ा था, जिसके फलस्वरूप उनके सार्वजनिक तथा व्यक्तिगत – दोनों ही प्रकार के जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई थीं। अन्य असुविधाओं के अतिरिक्त अपने लिए एक निवास-स्थान प्राप्त करना उनके लिए बड़ा कठिन हो गया था। गृह-स्वामिनियाँ प्राय: ही उन्हें कहतीं कि व्यक्तिगत रूप से उन्हें उनके विरुद्ध कोई विद्वेष नहीं, पर भय की बात यह है कि किसी एशियाई को घर में रखने पर बाकी निवासी या भोजन करनेवाले उनका घर छोड़ देंगे। इसलिए बाध्य होकर स्वामीजी को अपेक्षाकृत निम्न स्तर का मकान लेना पड़ा था। जैसा परिवेश तथा जैसे लोगों का सान्निध्य उन्हें चाहिए था, वैसा कुछ उन्हें नहीं मिला। उस निर्धनों के मुहल्ले के एक गन्दे-से मकान में एक रात बिताने के बाद उन्होंने कुमारी वाल्डो से कहा, "यहाँ का खाना बड़ा गन्दा दीख पड़ता है, क्या तुम मेरे लिए पका सकोगी।" वाल्डो तत्काल गृह-स्वामिनी के पास गयीं और उनसे रसोईघर के उपयोग की अनुमति ले ली; तदुपरान्त अगले दिन प्रात:काल वे अपने भण्डार से बरतन तथा राशन आदि लेती आयीं।

वे ब्रुकलिन के दूसरे छोर पर निवास करती थीं। वहाँ से आने का एकमात्र साधन था मन्थरगामी घोड़ागाड़ी और उससे न्यूयार्क के ३८वें मार्ग पर स्थित स्वामीजी के मकान तक पहुँचने में दो घण्टे लग जाते थे। परन्तु इसकी परवाह किये बिना ही वाल्डो सुबह आठ बजे या उससे भी पहले घर से निकल पड़तीं और रात के नौ-दस बजे वापस लौटतीं। परन्तु छुट्टी के दिन इसके विपरीत व्यवस्था होती। उस दिन स्वामीजी घोड़ागाड़ी पर दो घण्टे की सवारी करके वाल्डो के घर जाकर खाना पकाते। उस सहज-साधारण घर की शान्ति एवं स्वच्छन्दता के बीच उन्हें बड़ी राहत मिलती। उनका रसोईघर मकान के सबसे ऊपरी मंजिल पर था और उसी के सामने भोजन का कमरा था जो रवि-रश्मियों से आलोकित तथा गमलों में लगाये पौधों से सजा हुआ था। स्वामीजी वहाँ पाश्चात्य चीजों से नये-नये प्रकार के भोजन बनाने या प्रयोगों में व्यस्त होकर, एक क्रीड़ारत बालक के समान जल्दबाजी के साथ इस कमरे से उस कमरे में आते-जाते रहते थे।

कुमारी वाल्डो ने बाद में मुझे बताया था, "इतने घनिष्ठ मेलजोल के बावजूद मेरे मन में एक बार भी संसार त्याग करने की बात नहीं उठी, यही बड़े आश्चर्य की बात है। उनके साथ भारत जाने के बारे में भी मैंने कभी गम्भीरता से नहीं सोचा। मुझे लगता कि मेरा स्थान अमेरिका ही है, तथापि विश्व में ऐसा कुछ भी नहीं था, जो मैं उनके लिए नहीं कर पाती। जब वे पहली बार न्यूयार्क में आये, तब वे सर्वत्र ही अपने गेरुए रंग के वस्त्र पहने रहना चाहते थे। ब्राडवे पर ऐसे आग-जैसे भड़कीले कोट के साथ-साथ चलने के लिए बड़े साहस की जरूरत पड़ती थी। स्वामीजी जब किसी की भी परवाह किये बिना राजोचित मुद्रा में लम्बे-लम्बे डग भरते हुए मेरे आगे-आगे चलते और मैं हाँफते हुए उनके साथ चलने का प्रयास करती, उस समय सभी लोगों का ध्यान हमारी ओर खिंच जाता और हर व्यक्ति पूछता, 'कौन हैं ये लोग?' बाद में मैंने उन्हें समझा-बुझाकर और भी हल्के रंग का कोट उपयोग करने को राजी कर लिया था।"

एक दिन स्वामीजी ने देखा कि कुमारी वाल्डो की आँखों में आँसू छलछला आए हैं। उन्होंने चिन्तित होकर पूछा, "क्या बात है एलेन? कुछ हुआ है क्या?" वाल्डो ने कहा, "लगता है मैं आपको सन्तुष्ट नहीं कर पा रही हूँ। जब दूसरे लोग आपको नाराज करते हैं, तो भी आप मुझे ही डाँटते हैं।" स्वामीजी तत्काल बोल उठे, "देखो, मै उन लोगों को ठीक से जानता नहीं कि उन्हें डाँट सकूँ, इसीलिए मैं तुम्हारे पास आता हूँ। यदि अपने लोगों को भी न डाँट सकूँ, तो फिर डाँटने के लिए और किसके पास जाऊँगा?" इसके साथ ही वाल्डो के आँसू सूख गये और इसके बाद से वे सर्वदा उनकी डाँट-फटकार की प्रतीक्षा में रहने लगीं, क्योंकि वे समझ गयीं कि यही उनकी आत्मीयता का द्योतक है।

कुमारी वाल्डो ने स्वयं ही मुझे बताया था कि यह उन्हीं के जीवन की घटना है, जबकि रोमाँ रोलाँ ने इसे एक अन्य शिष्य के जीवन की घटना बताया है। वैसे सम्भव है इसी घटना की पुनरावृत्ति भी हुई हो।

धर्माचार्यों के विषय में कुमारी वाल्डो को काफी अनुभव था। ज्ञान के लिए अपने सुदीर्घ अन्वेषण के दौरान उन्होंने अनेक शिक्षको के चरणों-तले आश्रय लिया था; परन्तु दो-चार दिन पहले या बाद में वे देखतीं कि सभी के स्वभाव में दोष हैं। अत: उन्हें सदा भय लगा रहता था कि कही इन हिन्दू संन्यासी के स्वभाव में भी वैसा ही कोई दोष न दिख जाय। ऐसे दोषों के लक्षण देखने को वे बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि रखती थीं। और वे लक्षण उनकी निगाह में आ भी गए।

उस दिन स्वामीजी तथा वे न्यूयार्क के एक बैठकखाने में उपस्थित थे। आज के न्यूयार्क की तुलना में स्वामीजी के समय का न्यूयार्क बिल्कुल भिन्न था। उन दिनो वहाँ सड़क

के दोनों ओर बादामी रंग के पत्थरों से निर्मित एक ही प्रकार के मकानों की कतारें थीं। मकानों के रूपरंग में इतनी समानता थी कि एक बार एक प्रसिद्ध चित्रकार ने प्रश्न किया, "आप लोग कैसे समझ पाते हैं कि हम अपने ही घर में आए हैं? भूल से पड़ोसी के घर में भी तो प्रविष्ट हो जाने की सम्भावना है?"

इनमें से हर सँकरे परन्तु लम्बे मकान की दूसरी मंजिल पर एक लम्बा और सँकरा बैठक-खाना होता था; इसके एक ओर ऊँचा मुड़ने-वाला दरवाजा, दूसरे छोर पर दो बड़ी-बड़ी खिड़कियाँ और दोनों के बीच में फर्श से छत तक पहुँचता हुआ एक विशाल दर्पण लगा रहता था। स्वामीजी का इस दर्पण की ओर आकर्षण दीख पड़ा। वे बारम्बार उसके सामने खड़े बड़े ध्यानपूर्वक स्वयं को देखने लगे और बीच-बीच में वे विचारों में डूबे कमरे के इस छोर से उस छोर तक टहलते रहे। चिन्ता में डूबीं कुमारी वाल्डो की आँखें भी उनका अनुसरण कर रही थीं। वे सोच रही थीं, "अब इनका भण्डा फूटने ही वाला है, ये अपने व्यक्तित्व के मद में चूर दिखते हैं।" स्वामीजी अचानक ही उनकी ओर मुड़े और कहने लगे, "एलेन, यह सर्वाधिक विचित्र बात है, मैं स्मरण ही नहीं रख पाता कि मैं कैसा दिखता हूँ। मैं बारम्बार दर्पण में स्वयं को देखता हूँ; परन्तु वहाँ से मुड़ते ही स्मरण नहीं रह जाता कि मैं कैसा दिखता हूँ!"

स्वामीजी के इस प्रथम अमेरिकी यात्रा के दौरान ही उनकी 'राजयोग' नामक पुस्तक तैयार हुई थी। इसका अधिकांश भाग उनके मुख से सुनकर कुमारी वाल्डो ने लिपिबद्ध किया था। उन्होंने इसे संकेत-लिपि में नहीं, अपितु सामान्य लिपि में लिखा था। इस कार्य में बीते आनन्दपूर्ण समय की बातें उनके लिए विशेष रूप से स्मरणीय थीं, वे प्राय: ही उस पर चर्चा किया करतीं। प्रतिदिन स्वामीजी का भोजन पक जाने तथा रसोईघर का कार्य पूरा हो जाने पर वे मकान के पिछले हिस्से में स्थित स्वामीजी के कमरे में आतीं और मेज पर रखी दावात में कलम डुबोकर प्रतीक्षा में बैठी रहतीं। तब से लेकर उस दिन की कार्यावली समाप्त होने तक उनके कलम की निब गीली ही रहती, ताकि वे स्वामीजी के मुख से बीच-बीच में निकल पड़नेवाली वाक्य-धारा को पकड़ सकें। कभी-कभी किसी सूत्र के किसी संस्कृत शब्द का अंग्रेजी पर्याय सोचते हुए वे १५-२० मिनट तक एकाग्रता के साथ मौन बैठे रहते, पर कलम को सूखने नहीं दिया जाता था, क्योंकि किसी भी क्षण बोलने का प्रवाह आरम्भ हो जाने की सम्भावना बनी रहती थी।

पाण्डुलिपि तैयार हो जाने पर कुमारी वाल्डो को ही उसके मुद्रण का उत्तरदायित्व सौंप दिया गया। पर पुस्तक छपने के पूर्व उन्हें बड़े कष्ट तथा मर्मान्तिक पीड़ा का अनुभव करना पड़ा था। स्वामीजी के एक अन्य विशिष्ट अनुरागी ने ग्रन्थ की पाण्डुलिपि को देखने के लिए उनसे लिया और उसे लन्दन में ले जाकर प्रकाशित कर दिया, क्योंकि उन्होंने सोचा था कि इसके लन्दन में प्रकाशित हो जाने से स्वामीजी के कार्य में सुविधा होगी। परन्तु इसके फलस्वरूप अमेरिकी संस्करण निकालना सम्भव न हो सका; अप्रचलित शब्दों की तालिका तथा कुछ अन्य सामग्री जोड़ने के बाद ही उसे पुन: प्रकाशित किया जा सका था।

❑❑❑

विवेकानन्द-प्रणति

रवीन्द्रनाथ गुरुः

दिव्य-मानस-पुत्राय सारदा-रामकृष्णयोः ।
सते च साधकेन्द्राय विवेकानन्द ते नमः ।।१।।

– माँ सारदा देवी तथा भगवान श्रीरामकृष्ण के दिव्य मानस-पुत्र, सन्त, साधकोत्तम हे विवेकानन्द ! आपको मेरा प्रणाम है।

विदेश-गमनं कृत्वा देश-सम्मान-वर्द्धक ।
महते ज्ञानसूर्याय विवेकानन्द ते नमः ।।२।।

– विदेशों की यात्रा करके अपने देश के सम्मान को बढ़ानेवाले हे महान् ज्ञानसूर्य विवेकानन्द ! आपको मेरा प्रणाम है।

दम्भ-द्वेष-कुरीत्यादि-विरोध-करणे सदा ।
पञ्चास्याय नमस्याय विवेकानन्द ते नमः ।।३।।

– दम्भ-द्वेष और कुरीतियों आदि के विरुद्ध बोलने में सिंह के समान नमस्करणीय हे विवेकानन्द ! आपको मेरा प्रणाम है।

राष्ट्र-प्रणयिनां नृणां धर्मादर्शाय धर्मिणे ।
भारतस्याभिमानाय विवेकानन्द ते नमः ।।४।।

– राष्ट्रप्रेमी व्यक्तियों के धर्मादर्श, धर्ममय और भारत के सच्चे स्वाभिमान हे विवेकानन्द ! आपको मेरा प्रणाम है।

श्रीमाँ की यादें

इन्दुबाला घोष

माँ श्री सारदा देवी दैवी मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। हमारे लिए बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

मेरे पिता का नाम चन्द्रमोहन दत्त था। हम लोगों का निवास पूर्व बंगाल (अब बंगलादेश) में था। हमारा परिवार विक्रमपुर जिले के अन्तर्गत गाउपाड़ा गाँव में रहता था। मेरे दादाजी का नाम कृष्णचन्द्र दत्त था। उनके पाँच पुत्र और तीन पुत्रियाँ थीं। मेरे पिता चन्द्रमोहन दत्त दादा की तीसरी सन्तान थे। काली कुमार दत्त सबसे बड़े थे। वे रेलवे में नौकरी करते थे और शोभाबाजार में निवास करते थे। मेरे पिता गाँव से नौकरी की खोज में कलकत्ता आए और मेरे ताऊ कालीकुमार के घर रहने लगे। कोई काम न मिलते देख एक दिन ताऊजी ने मेरे पिता से कहा – "यदि तुम रुपये-पैसे नहीं दोगे, तो मैं तुम्हें खिला नहीं सकूँगा।" पिताजी ताऊ को 'ठाकुर भाई' के रूप में सम्बोधित करते थे। ठाकुर भाई के मुँह से ऐसी निष्ठुर बात सुनकर उन्हें स्वयं पर बड़ी ग्लानि हुई और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि यदि आज ही मुझे नौकरी न मिली, तो रेलवे लाइन पकड़कर जिधर दृष्टि ले जायेगी, चला जाऊँगा। उस दिन चलते-चलते एक सज्जन से उन्हें पता चला कि रामकृष्ण मिशन जाने पर नौकरी मिल सकती है। कुछ ही दिन पूर्व पिताजी को रामकृष्ण मिशन के बारे में जानकारी मिली थी। अस्तु, खोजते-खोजते वे उद्बोधन पहुँचे।

पिताजी 'उद्बोधन कार्यालय' (माँ के मकान) के बाहर बरामदे में बैठ गए। जब वहाँ के एक सेवक मुख्य द्वार पर आये, तो पिताजी ने उन्हें बुलाकर कहा – "यह रामकृष्ण मिशन है क्या?" उस व्यक्ति का नाम मोहन था। उसने कहा – "हाँ।" पिताजी ने कहा – "यहाँ जो सबसे बड़े हैं, उनसे मिलना चाहता हूँ। मुलाकात हो सकती है?".

मोहन ने कहा – "मैं ऊपर जाकर माँ से पूछ आता हूँ।" मोहन जाकर माँ से बोला – "माँ, एक व्यक्ति आपसे मिलना चाहते हैं।" माँ ने कहा – "ले आओ।" पिताजी ने वहाँ जाने पर माँ ने उनसे पूछा – "तुम्हारा नाम क्या है? गाँव कहाँ है? क्या करते हो?" आदि, आदि। पिताजी ने नाम तथा गाँव बताया और साथ ही यह भी कहा कि वे काम पाने की चेष्टा कर रहे हैं। माँ ने पूछा – "क्या तुम यहाँ काम करोगे?" पिताजी ने कहा – "आप मुझे जो भी काम देंगी, उसे करूँगा।" तब माँ ने कहा – "कल से तुम यहाँ काम करोगे। तुम्हें बाजार करने के लिए पैसा दिया जायेगा और तुम मोहन को साथ लेकर बाजार जाना। बाजार करने के बाद जो पैसा बचेगा, उसे तुम ले लेना, लौटाने की जरूरत नहीं होगी।" माँ के कहने पर शरत् महाराज ने भी कोई आपत्ति नहीं की। शरत् महाराज को भी पिताजी पसन्द आये थे। कुछ दिनों बाद माँ ने पिताजी से कहा – "कल से तुम यहीं रहोगे। खाने-पीने-रहने की सारी व्यवस्था यहीं रहेगी। तुम्हारा मासिक वेतन दस रुपये होगा।" माँ पिताजी को स्नेह से 'चन्दू' कहकर बुलाती थीं। इसके बाद एक दिन वे पिताजी से बोलीं – "जहाँ जहाँ ठाकुर का उत्सव होगा, वहाँ-वहाँ तुम उद्बोधन की किताबें बेचने के लिए ले जाना।" एक कुली ठीक कर लिया गया। उसका नाम था पाँचू। पिताजी कुली के सिर पर किताबें रखकर ले जाते। पिताजी के कहीं जाने पर माँ उनके लिए शरबत बना कर रख देतीं कि चन्दू जब धूप में आयेगा, तो पीयेगा।

एक दिन पिताजी उत्सव के लिए किताबें लेकर बाँकुड़ा जा रहे थे। माँ ने उनसे कहा – "तुम तो बाँकुड़ा जा रहे हो, अपनी लड़की से कह दो कि जब जिस चीज की जरूरत हो, मुझे आकर बताये।" इसके पहले हम माँ-भाई-बहन गाँव में रहते थे। एक दिन माँ ने पिताजी से कहा था – "चन्दू, इस बार बहू-बच्चों को कलकत्ते ले आओ।" तब पिताजी हम लोगों को गाँव से ले आये। हमारी विधवा बुआ भी साथ आयीं। उस समय हम लोग बागबाजार के निवेदिता लेन में एक कमरा किराये पर लेकर उसी में रहते थे। धीरे-धीरे पिताजी का वेतन २५ रु. मासिक हुआ। माँ हमेशा ही हम लोगों की सहायता करतीं। मेरी माँ को साड़ी नहीं खरीदनी पड़ती, माँ ही दे दिया करतीं। न केवल मेरी माँ को, बल्कि पिताजी और हम सभी को वे ही कपड़े-लत्ते देतीं।

उस समय मैं निवेदिता स्कूल में पढ़ती थी। मुझे वहाँ माँ ने ही भर्ती कराया था। उस समय निवेदिता स्कूल बोसपाड़ा के काँठालतले के एक किराये के मकान में था। सुधीरा दीदी (सुधीरा बसु) उस समय स्कूल की प्रधान-शिक्षिका थीं। एक

दिन वे माँ को स्कूल में ले आने वाली थीं। छात्राओं को उन्हें भजन-स्तोत्र आदि सुनाना था। हम लोग एक पंक्ति में खड़े थे। सुधीरा दीदी स्कूल की फिटन गाड़ी में माँ को लेकर आयीं। उन्हें एक कुर्सी पर बिठाया गया। हम सब ने माँ को प्रणाम करने के बाद स्तव-भजन आदि सुनाया। मैं बीच-बीच में माँ को देख लेती। माँ ने इशारे से मुझे इस प्रकार देखने से मना किया। माँ को अपने बीच पाकर सुधीरा दीदी तथा स्कूल की अन्य दीदियों को मैंने खूब आनन्द मनाते देखा।

एक दिन मैं और मेरी चचेरी बहन रानी (मेरे चाचा लाल मोहन दत्त की पुत्री रानीबाला नाग (माँ स्नेह से उसे 'छोटी बिटिया' और मुझे 'बड़ी बिटिया' कहकर बुलातीं) दोनों उद्बोधन गयी थीं। गोलाप-माँ, योगीन-माँ – दोनों ही सर्वदा माँ के पास रहतीं। गोलाप-माँ खूब उग्र स्वभाव की और योगीन-माँ अत्यन्त शान्त स्वभाव की थीं। गोलाप-माँ हम लोगों को देखकर बोलीं – "इतनी देर से क्यों आयी हो?" यह सुनकर डर के कारण हम लोग तेजी से सीढ़ियाँ उतरकर बिल्कुल सड़क पर जा पहुँचीं। सहसा पीछे मुड़कर देखा, तो माँ बरामदे में आकर हम लोगों को बुलाते हुए कह रही थीं – "ओ बच्चियो, नाराज न होना, चली आओ।" सिर निकालकर और हाथ बढ़ाकर माँ बार-बार बुला रही थीं। दो-तीन बार हाथ हिलाकर मैंने भी मना किया, "हम लोग नहीं आयेंगी, गोलाप-माँ हमें डाँट रही हैं।" उसके बाद पिताजी के घर लौटने के बाद उनसे सुना कि माँ कह रही थीं – "गोलाप की बातें तो ऐसी ही हैं, मैंने बच्चियों को कितना बुलाया, पर वे कैसे भी नहीं आईं।" पिताजी घर लौटकर मुझसे बोले – "माँ ने इतना बुलाया, तू गयी क्यों नहीं?" उस समय हम लोग क्या जानती थीं कि माँ क्या हैं? उस समय तो मैं मात्र दस वर्ष की थी! मेरे छोटे भाई (अमूल्य चरण दत्त) के लिए माँ ने तीन तोले सोने का हार बनवाकर पिताजी से कहा था – "यह हार तुम्हारे लड़के को दिया, गले में पहना दो।"

बीच-बीच में मैं उद्बोधन जाती। माँ मुझे पत्तल में मोहन - भोग देतीं। एक दिन स्कूल की लड़कियाँ पिकनिक करनेवाली थीं। मुझे चार आने पैसे देने होंगे। मैंने मन-ही-मन निश्चय किया कि उद्बोधन जाकर माँ से माँग लूँगी। माँ को मैं ठाकुर-माँ सम्बोधित करती थी। वहाँ जाकर ठाकुर-माँ कहते ही माँ ने पूछा कि मैं क्यों बुला रही हूँ। पिकनिक के लिए चार आने पैसे चाहिए – सुनकर उन्होंने बक्से में से एक चवन्नी लाकर मुझे दे दिया। उस समय सस्ते का दिन था। मेरी माँ जब उद्बोधन जाती, तो कभी-कभी उसके साथ मैं और मेरा भाई अमूल्य भी चले जाते। यदि कभी माँ अकेले जाती, तो श्रीमाँ मेरे और अमूल्य के बारे में पूछताछ करतीं।

मैं प्राय: स्कूल से लौटकर बलराम बाबू के घर जाकर वहाँ की लड़कियों के साथ खेलती। एक दिन उद्बोधन जाने पर मैंने देखा कि राधू दीदी और माकू दीदी चूड़ीवाले से रेशमी चूड़ियाँ पहन रही हैं। माँ ने मेरे दोनों हाथों में छह-छह यानी कुल बारह चूड़ियाँ पहना देने को कहा।

श्रीमाँ मुझसे उनके सिर के पके बालों को निकाल देने को कहतीं। मैं भी बैठी-बैठी माँ के पके बाल निकालती। श्रीमाँ के बाल खूब घने, आधे काले आधे पके, घुँघराले और कमर तक लम्बे थे। बाल निकालने के बाद वे मुझे एक बड़ी इमरती या सन्देश देतीं। एक दिन ढाका से एक भक्त ने माँ के लिए इमरतियाँ भेजी थीं। एक-एक इमरती करीब एक-एक पाव की रही होगी। श्रीमाँ ने मेरे हाथ में एक इमरती देते हुए कहा – "जाकर अपनी माँ को दे आओ।" उस समय हम लोग किराये पर गिरीश बाबू के मकान के सामने वाले मकान में रहते थे। मैं हाथ में इमरती लेकर जा रही थी, तभी गिरीश बाबू के मकान का कुत्ता उछलकर मेरे हाथ से इमरती लेकर खा गया। मैंने दौड़कर जाकर अपनी माँ से यह बात बतायी। मेरी माँ ने जल्दी से आकर सड़क पर जो दो-एक टुकड़े पड़े थे, उन्हें उठाकर मुँह में डाला। उसे श्रीमाँ ने जो भेजा था! मैं गिरीश बाबू के घर जाकर एक व्यक्ति से बोली कि उनका कुत्ता मेरी इमरती खा गया है। सुनकर उन्होंने कहा – "कुत्ता खा गया है, तो मैं अब क्या करूँ?" वैसे उस समय मैं यह नहीं जानती थी कि वह गिरीश बाबू का मकान है, मुझे बाद में पता चला था।

मेरे पिताजी की दीक्षा पहले ही श्रीमाँ से हो चुकी थी। एक दिन मेरी माँ ने सपना देखा कि माँ उन्हें दीक्षा दे रही हैं। माँ ने पिताजी से यह बात कही। तब पिताजी ने माँ से उस स्वप्न की बात बतायी, तो माँ ने हँसकर कहा – "बहू से कहो कि एक नयी लाल किनारी की साड़ी पहनकर मेरे पास आये और पाँच हरीतकी भी साथ लेती आये।" शायद साड़ी भी श्रीमाँ ने ही पिताजी के हाथ भेज दिया था। अगले दिन मेरी माँ उसी प्रकार उद्बोधन गयी। दीक्षा लेने के पहले माँ ने स्वप्न में प्राप्त मंत्र को बताया। सुनकर श्रीमाँ बोलीं – "पहले स्वप्न में प्राप्त मंत्र का जप करके फिर मेरा मंत्र जपना।"

मेरी माँ स्वप्न में मछलियाँ बहुत देखती थी। पिताजी ने जाकर यह बात श्रीमाँ से कही – "माँ, आपकी बहू मछलियों के बहुत स्वप्न देखती है।" यह सुनकर श्रीमाँ हँसती हुई बोलीं – "ऐसा स्वप्न देखना बहुत अच्छा है। मछली की ढेरी की तरह रुपये आयेंगे।"

पिताजी श्रीमाँ से कहते – "माँ, मेरे बच्चों को आशीर्वाद दीजिए कि उन्हें मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव न हो।" श्रीमाँ कहतीं – "तुम्हारे बच्चों को मैं हमेशा आशीर्वाद देती रहती हूँ। मैं आशीर्वाद देती हूँ कि उन्हें कभी मोटे अन्न-वस्त्र का अभाव नहीं होगा।" एक बार उन्होंने पिताजी को थोड़े-से चावल दिये थे और कहा था – ये चावल घर के

चावल के कोठे में रख देना, तुम लोगों को कभी चावल का अभाव नहीं होगा।''

एक बार पिताजी के हार्दिक अनुरोध पर श्रीमाँ ने उन्हें अपना स्वरूप – जगद्धात्री मूर्ति दिखलाया था। उसके बाद उन्होंने कहा था – ''तुम्हें यह जो रूप दिखाया, मेरा शरीर रहते यह बात किसी से मत कहना।'' श्रीमाँ के देहत्याग के बाद मेरे पिताजी ने मेरी माँ से यह बात बतायी थी। जगद्धात्री मूर्ति के दोनों ओर जया-विजया खड़ी थीं। श्रीमाँ ने कहा था – ''गोलाप और योगीन मेरी जया-विजया हैं।'' पिताजी के मरणोपरान्त यह बात मैंने अपनी माँ से सुनी थी। माँ जब जयरामबाटी जातीं, तो कभी-कभी मेरे पिताजी को भी साथ ले जातीं। श्रीमाँ को जयरामबाटी पहुँचाकर कलकत्ते लौटकर पिताजी यह समाचार शरत् महाराज को बताते। एक बार मैं भी इसी प्रकार पिताजी के साथ जयरामबाटी गयी थी। मुझे याद है कि मैं राधू दीदी तथा माकू दीदी के साथ बैलगाड़ी से जयरामबाटी गयी थी। हमारे बागबाजार के मकान में श्रीठाकुर और श्रीमाँ के जिस चित्र की पूजा होती है, उसकी माँ ने स्वयं पूजा की थी। उद्बोधन में दुर्गापूजा में हम लोग चारों दिन प्रसाद पाते थे। महाष्टमी के दिन श्रीमाँ कुमारी-पूजा करतीं। मैं खड़ी-खड़ी देखती। कितना अच्छा लगता! महा-अष्टमी के दिन सब लोग श्रीमाँ के चरणों में फूल देकर पूजा करते। एक बार मेरी माँ ने श्रीमाँ के चरणों को गंगाजल से धो दिया था। उन्होंने तत्काल कहा – ''बहू, क्या कर रही हो? गंगाजल से पाँव धो रही हो?'' मेरी माँ बड़ी लज्जित हुई और बोली कि उन्हें नहीं पता था, तत्पश्चात् माँ ने फूलों से श्रीमाँ के चरणों की पूजा की।

श्रीमाँ के दोनों हाथों में एक-एक सोने के कंगन थे। वे खूब पतली लाल किनारीवाली साड़ी पहनतीं। उनके दोनों पाँवों के अंगूठों में एक-एक लोहे की अंगूठी थी। मैं अक्सर श्रीमाँ को पैर फैलाकर बैठे देखती। सुना कि वात-रोग के कारण ही वे इस प्रकार बैठती थीं। हम लोग भाड़े के जिस मकान में रहते थे, उसका मालिक हम लोगों को खेलने नहीं देता था। अपने नौकरों को कहकर वह हमारे खिलौने बाहर फिकवा देता। प्राय: ही ऐसा होता। पिताजी ने एक दिन यह बात श्रीमाँ को बतायी। उन्होंने पिताजी से कहा – ''तुम इस समय बहू-बच्चों को गाँव भेज दो।'' उस समय हम लोग गाँव चले गये। बाद में श्रीमाँ ने शरत् महाराज से कहा – ''शरत्, इनके सिर रखने के लिए एक जगह कर दो'' शरत् महाराज ने आन्दूल-मौड़ी के जमींदार से बागबाजार के बोसपाड़ा लेन में साढ़े सात कट्ठा जमीन लेकर पिताजी को दिया। साढ़े तीन कट्ठे पर घर बना। छत पर डालने के टिन की व्यवस्था भी श्रीमाँ के कहने पर शरत् महाराज ने ही की। चार कट्ठे जमीन में उद्यान हुआ। उद्यान में अनेक प्रकार के पौधे लगाये गये। उनमें सरसों के पौधे भी थे। एक दिन शरत् महाराज घर देखने आये, तो बोले – ''सरसों का पौधा क्यों लगाया है? घर की जमीन में सरसों का पौधा नहीं लगाते।'' पिताजी ने तत्काल वह सब उखाड़कर फेंक दिया।

मेरे दादाजी के गले में घाव हुआ था। पिताजी ने यह बात श्रीमाँ से बतायी। श्रीमाँ ने तत्काल पिताजी से कहा – ''अपने पिता को कलकत्ते ले आओ। यहाँ (ज्ञानेन्द्रनाथ) काँजीलाल, दुर्गापद (घोष), श्यामापद (मुखोपाध्याय) जैसे बड़े-बड़े डॉक्टर हैं। यहीं उनकी चिकित्सा कराओ।'' दादाजी को कलकत्ते लाया गया। दुर्गापद डॉक्टर ने उन्हें देखकर कहा – ''कैंसर हुआ है।'' श्रीमाँ उनके लिए बहुत-से फल भेजतीं, लेकिन कुछ दिन बाद ही उनकी मृत्यु हो गयी। जिस समय दादाजी की मृत्यु हुई उस समय माँ जयरामबाटी में थीं। पिताजी ने पत्र लिखकर माँ को सूचना दी। दादाजी की मृत्यु का संवाद पाकर श्रीमाँ ने पिताजी को एक पत्र लिखा था। विभिन्न अवसरों पर श्रीमाँ ने पिताजी को भी कई पत्र लिखे थे। उन पत्रों को मेरे छोटे भाई कार्तिक ने हमारे बागबाजार के मकान में सहेज कर रखा है।

माँ बीच-बीच में कुछ व्यंजन बनाकर श्रीमाँ के घर भेजा करती थी। एक दिन अचानक गरम दाल की हण्डी में लोटा गिर पड़ा, जिससे माँ का सारा शरीर जल गया। माँ पीड़ा से छटपटा रही थी। पिताजी ने जल्दी से उद्बोधन जाकर श्रीमाँ को सूचना दी। माँ ने तत्काल एक कटोरी में सरसों का तेल लेकर जप करके देते हुए फफोले की जगह पर लगाने को कहा। उसे लगाने के बाद माँ की पीड़ा कम हो गयी।

श्रीमाँ ने पिताजी को अपने सिर के केश, नख तथा वस्त्र दिये थे। मेरी माँ इनकी नित्य पूजा करती थी। मैं भी माँ से कुछ वस्तुएँ अपने पास लाकर अब भी पूजा करती हूँ।

एक भक्त ने राधू दीदी के लिए करीब १५-१६ प्रकार के अचार दिये थे। श्रीमाँ ने उसमें से आधे मेरे पिताजी को देकर कहा – ''बहू को देना, खायेगी। इतने अचार का क्या होगा?''

एक दिन सहसा पिताजी बोले – ''श्रीमाँ की तबीयत बहुत खराब है। उस दिन सारी रात वे उद्बोधन में ही रहे और सुबह आकर बताया, ''श्रीमाँ ने देहत्याग कर दिया है।'' हम लोग शीघ्रतापूर्वक उद्बोधन गये। जाकर देखा कि श्रीमाँ ठाकुर-घर में सोयी हैं। दल-के दल भक्त सब आ रहे हैं, साधु लोग आ रहे हैं और अपना प्रणाम निवेदन कर रहे हैं। हम लोग भी उनको प्रणाम करके चली आयीं।

तब मेरी आयु १४ वर्ष २ माह थी और मैं निवेदिता-स्कूल के छठी श्रेणी की छात्रा थी। १९२० ई. के जुलाई महीने में माँ ने स्वलोक-गमन किया। १९२१ ई. के वैशाख महीने में मेरी शादी हुई। उस समय मैं छोटी थी। एक दिन

श्रीमाँ ने मेरे पिताजी से कहा था – "चन्दू, बड़ी खुकी (मेरी) की शादी न करना, निवेदिता-स्कूल में पढ़ना-लिखना सिखाओ।" पिताजी ने कहा था – "मेरे भाई-दीदी आदि हैं, देखूँ वे लोग क्या कहते है?" अस्तु, पिताजी ने मेरी शादी कर दी। तब मेरी आयु करीब १५ वर्ष थी। मैं निवेदिता-स्कूल के सातवीं कक्षा में पढ़ती थी। शादी के कुछ ही वर्ष बाद मेरे पति लापता हो गये। बाद में पिताजी खेदपूर्वक पश्चाताप करते हुए कहते – "मैंने श्रीमाँ की बात नहीं सुनी। अब समझ में आ रहा है, उसकी शादी न करना ही ठीक होता।"[१]

१. इस प्रसंग में इन्दुबाला के छोटे भाई कार्तिकचन्द्र दत्त ने बताया – "दीदी जब चौबीस वर्ष की थीं, तभी उनके जीवन में एक चरम संकट आया। एक दिन जमाई बाबू (योगेश चन्द्र घोष) खिदिरपुर में अपने घर के पास बड़ी गंगा (हुगली नदी) में नहाने गये, तो वापस नहीं लौटे। नहाते समय वे पता नहीं कि डूब गये या कहीं चले गये। उनके न लौटने पर सबने सोचा कि अवश्य ही वे गंगा में डूब गये हैं। इसलिए गंगा में गोताखोर उतारे गये, लेकिन उनका शरीर नहीं मिला। उसी समय गंगा के किनारे एक साधु दिखे। उन्होंने जमाई बाबू के घर के लोगों से कहा – "उसे खोजने से कोई लाभ नहीं, वह तुम लोगों को कभी नहीं मिलेगा।" उसके बाद साधु वहाँ से चले गये। इस घटना के समय जमाई बाबू की आयु तीस वर्ष थी; दीदी के पुत्री रतन की आयु ४ साल और पुत्र हरि की केवल ९ महीने थी। दीदी ने १७ वर्ष की आयु में स्वामी सारदानन्द जी से दीक्षा प्राप्त की थी।" – सं.

१९३८ ई. में १७ अक्तूबर दुर्गा-पंचमी के दिन पिताजी की मृत्यु हुई। उस दिन दोपहर में ढाई बजे पिताजी ने घर के लोगों से कहा – "तुम लोग यहाँ से चली जाओ। लाल किनारी की साड़ी पहनकर श्रीमाँ मुझे लेने आई हैं।" कुछ देर बाद ही अपराह्न में तीन बजे उन्होंने अन्तिम साँस ली।

श्रीमाँ ने एक रुद्राक्ष की माला शोधन करके मेरे पिताजी को जप करने के लिए दिया था। पिताजी इसी माला से जप करते थे। उनकी मृत्यु के बाद मेरी माँ ने एक दिन सत्येन महाराज (स्वामी आत्मबोधानन्द) से पूछा कि इस माला का वे क्या करें? महाराज ने उसे गंगा में प्रवाहित करने को कहा। परन्तु माँ ने उसे गंगा में प्रवाहित नहीं किया। स्वयं श्रीमाँ के हाथों शोधन की हुई माला वे गंगाजी में कैसे डालें? बाद में माँ ने जब यह मुझे बतायी, तो मैं बोली – "सौभाग्य से ही तुमने यह माला प्रवाहित नहीं की, लाखों रुपये देने पर भी ऐसी वस्तु नहीं मिलेगी – यह माला श्रीमाँ के हाथों की जप की हुई है! अब यह मेरे छोटे भाई कार्तिक के पास है।

श्रीमाँ ने मुझे बहुत आशीर्वाद दिया है। इस समय अब ९५ वर्ष (१९९१ ई. में) की आयु में भी उनकी कृपा से स्वस्थ शरीर में चल-फिर लेती हूँ।

(उद्बोधन मासिक, वर्ष ९३, संख्या १२, पौष १३९८)

श्रीरामकृष्ण की बोध-कथाएँ

(कथाओं व दृष्टान्तों के माध्यम से अपनी बातें समझाने की परम्परा वैदिक काल से ही चली आ रही है। श्रीरामकृष्ण भी अपने उपदेशों के दौरान अनेक कथाएँ सुनाते थे। यत्र-तत्र बिखरी इन मूल्यवान कथाओं को हम यहाँ धारावाहिक रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

– ३७ –

कुँआ खोदने की कला

एक बार किसी व्यक्ति को एक कुँआ खोदना था। किसी ने एक विशेष स्थान पर उसे खोदने की सलाह दी। उसने खोदना शुरू किया। १५ हाथ खुदाई करने के बाद पत्थर मिलने लगे, परन्तु पानी नहीं मिला, तो वह निराश हो उठा।

तभी वहाँ एक अन्य व्यक्ति आ पहुँचा और खोदनेवाले की मूर्खता पर हँसता हुआ खुदाई के लिए एक अन्य स्थान की ओर संकेत किया। उस व्यक्ति ने पहला स्थान छोड़कर नये स्थान पर खुदाई शुरू की। इस बार वह खोदते हुए २० हाथ नीचे तक चला गया। परन्तु तभी एक तीसरा आदमी भी आ पहुँचा और उसने उसे और भी उत्तम स्थान दिखाया। परन्तु इस बार तीस हाथ तक खोदकर भी केवल बालू ही हाथ आया।

वह ऊबकर यह काम छोड़ने ही वाला था कि एक चौथा व्यक्ति भी आ पहुँचा। उसने धीरे से मुस्कुराते हुए कहा, "भाई, सचमुच ही तुमने बड़ा परिश्रम किया है, परन्तु गलत सलाह के कारण तुम्हारी सारी मेहनत मिट्टी में मिल गयी। ठीक है, मेरे साथ चलो और मैं तुम्हें एक ऐसे स्थान पर ले चलूँगा, जहाँ कुदाली लगाते ही पानी की धार बह निकलेगी।" खोदनेवाले के मुख में पानी आ गया। अत: वह इस चौथे आदमी के पीछे-पीछे चल पड़ा और प्रतिक्षण जल की आशा के साथ उसके बताये स्थान पर खोदने लगा। परन्तु इस बार धैर्य के साथ २० हाथ खोदने पर भी पानी के दर्शन नहीं हुए। इस पर पूरी तौर से हताश होकर उसने खोदने का काम ही बन्द कर दिया।

इस प्रकार कुल मिलाकर उसने ८५ हाथ जमीन खोदी थी। यदि उसने एक ही स्थान पर इसके आधी भी खुदाई की होती, तो उसे निश्चित रूप से सफलता मिल जाती।

धर्म के क्षेत्र में भी व्यक्ति को गुरु-निर्दिष्ट पथ छोड़कर बार -बार अपनी साधना नहीं बदलनी चाहिए। जहाँ खोदना शुरू किया है, वहीं जब खोदता रहे, तभी पानी मिलेगा। अन्यथा उसे नास्तिक होकर धर्म को ही तिलांजलि दे देनी होगी।

– ३८ –

जैसा भाव वैसा लाभ – जादूगर का खेल

किसी देश में एक जादूगर रहता था। वह जादू के तरह-तरह के खेल दिखाकर अपने परिवार का भरण-पोषण किया करता था। उसकी प्रसिद्धि सुनकर राजा के मन में भी उसका खेल देखने की इच्छा हुई। राजा के दरबार में उसके खेल का आयोजन किया गया।

जादूगर राजा के सामने अपना खेल दिखा रहा था। खेल के बीच-बीच में वह कहता, "महाराज, रुपया दीजो, कपड़े दीजो" आदि आदि। उसी समय सहसा उसकी जीभ ऊपर तालु में चढ़ गयी और इसके साथ ही उसे कुम्भक हो गया। बस, उसकी बोली बन्द हो गयी, शरीर बिल्कुल स्थिर हो गया। लोगों ने सोचा कि उसकी मृत्यु हो गयी है।

अत: राजा के लोगों ने ईंट की एक कमरे-जैसी कब्र बनवाकर उसको उसी बैठी हुई मुद्रा में ही दफन कर दिया। समय बीतता गया। उस दौरान अनेक राजा हुए और अपना राज्य करके परलोक सिधारे। लोग उस जादूगर की बात बिल्कुल ही भूल गये। हजार साल बाद जमीन खोदते समय किसी को वह कमरा दिखाई दिया। उसने जिज्ञासा-वश उस कब्र को खोदा, तो लोगों ने देखा – एक आदमी गहन समाधि में मग्न बैठा हुआ है।

साधु समझकर लोग उसकी पूजा करने लगे, तभी हिलाने-डुलाने के कारण उसकी जीभ तालु से हट गयी। इससे उसे होश आ गया और वह चिल्लाता हुआ कहने लगा – "देखो मेरी कलाबाजी, महाराज, रुपया दीजो, कपड़े दीजो !"

कुम्भक लगे हजार साल बीत जाने के बाद भी जादूगर के मन में रुपयों तथा कपड़ों की ही कामना बनी रही। भगवान कल्पतरु हैं। भक्त जो कुछ चाहेगा, वही पायेगा। परन्तु कल्पतरु के पास पहुँचकर माँगना पड़ता है, तब कामना पूरी होती है। पर एक बात है – वे भावग्राही हैं। जो व्यक्ति जो कुछ सोचता है, साधना करने पर वह वैसा ही पाता है। जैसा भाव होता है, वैसी ही प्राप्ति भी होती है।

– ३९ –

गुलाब जान और नौकरी

एक व्यक्ति को नौकरी की तलाश थी। उसने कहीं सुना कि अमुक दफ्तर में एक जगह खाली है। वह उस दफ्तर में जाकर वहाँ के बड़े बाबू से मिला और नौकरी के लिए अपनी अर्जी पेश की। बड़े बाबू बोले – "अभी तो कोई जगह खाली नहीं है, बीच-बीच में आकर मिलते रहना।" वह बार-बार बड़े बाबू के पास जाता, परन्तु हर बार उसे इसी तरह का कोई-न-कोई बहाना सुनने को मिलता। वह बड़े बाबू के दफ्तर की खाक छानते-छानते परेशान हो गया।

एक दिन वह अपने एक मित्र के सामने अपना दुखड़ा रो रहा था। मित्र ने कहा – "तू भी कैसा अक्ल का दुश्मन है! अरे, उसके पास क्यों इतनी दौड़-धूप कर रहा है? तू तो बस गुलाब जान के पास चला जा। उससे सिफारिश करा ले, तो समझ ले कि तेरा काम हो गया।" नौकरी खोजनेवाला बोला – "यदि ऐसी बात है, तब तो मैं अभी जाता हूँ।'

गुलाब जान बड़े बाबू की रखैल थी। वह व्यक्ति उससे मिला और कहने लगा – "माँ, मैं बड़ी मुसीबत में पड़ गया हूँ। तुम्हारी सहायता के बिना मेरा काम नहीं होगा। बहुत दिनों से कोई काम-धन्धा नहीं है। बाल-बच्चों के भूखे मरने की नौबत आ गई है। ब्राह्मण का बेटा ठहरा, दूसरा कुछ तो नहीं कर सकता। कहाँ जाऊँ? क्या करूँ? तुम एक बार कह दो तो मुझे नौकरी मिल जाय।" गुलाब जान के मन में दया उपजी। उससे पूछा – "बेटा, किससे कहना होगा?' उम्मीदवार बोला – "आप जरा बड़े बाबू से कह दें, तो मुझे जरूर काम मिल जायेगा।" गुलाब जान ने कहा, "ठीक है, मैं आज ही बड़े बाबू से कहकर सब ठीक करा दूँगी।"

दूसरे दिन सुबह एक चपरासी आकर उसके दरवाजे पर हाजिर हुआ। उसने कहा – "आप आज से ही बड़े बाबू के दफ्तर में जाना आरम्भ कर दीजिये।" उसके दफ्तर पहुँचते ही बड़े बाबू ने उसे वहाँ के सबसे बड़े साहब के पास ले जाकर उसकी सिफारिश करते हुए कहा – "ये बड़े ही योग्य व्यक्ति हैं, इन्हें मैंने काम पर रख लिया है, ये बड़ी कुशलता के साथ दफ्तर का काम कर सकेंगे।"

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "कामिनी का ऐसा ही प्रभाव है। सारा जग इस कामिनी और कांचन को लेकर भूला हुआ है।"

– ४० –

बालक द्वारा भगवान का भोग लगाना

एक ब्राह्मण अपने कुल-देवता की बड़ी निष्ठापूर्वक सेवा-पूजा किया करते थे। पूजा के साथ ही वे प्रतिदिन देवता को अन्नभोग भी दिया करते थे। एक दिन किसी काम से उसे किसी दूसरी जगह जाना पड़ा। अत: वे अपने छोटे बच्चे से ही बोले – "बेटा, आज तुम्हीं ठाकुर जी का भोग लगा देना, उन्हें खिला देना।" इतना कहकर वे अपने गन्तव्य को चले गये।

बच्चे ने ठाकुर जी का भोग लगाया, परन्तु ठाकुर जी न कुछ बोले और न कुछ खाया ही। चुपचाप बैठे ही रहे। बच्चे ने बड़ी देर तक बैठे बैठे देखा कि ठाकुर जी नहीं उठते। उसे दृढ़ विश्वास था कि ठाकुर जी आकर आसन पर बैठकर भोजन करेंगे। वह बार बार कहने लगा, "ठाकुर जी, आओ, भोग पा लो, बड़ी देर हो गयी। अब मुझसे और बैठा नहीं जाता।" परन्तु ठाकुर जी भला क्यों उत्तर देने लगे?

तब बच्चे ने रोना शुरू कर दिया। वह रो-रोकर कहने लगा, "ठाकुर जी, मेरे पिता तुम्हें खिलाने को कह गए हैं, तुम क्यों नहीं आओगे? क्यों नहीं मेरा दिया हुआ खाओगे?"

व्याकुल होकर जब वह थोड़ी देर रोया, तो ठाकुर जी हँसते हुए आकर हाजिर हो गए और आसन पर बैठकर भोग पाने लगे। ठाकुर जी को भोग लगाने के बाद जब वह ठाकुर-घर से बाहर निकला, तो घरवालों ने कहा, "भोग हो गया हो, तो वह सब उतारकर ले आ।" बच्चा बोला, "हाँ, हो गया, ठाकुर जी ने सब कुछ खा लिया।' उन लोगों ने कहा, "अरे, यह तू क्या कहता है!' बच्चे ने सरलतापूर्वक कहा, "क्यों, ठाकुर जी ने सब खा तो लिया है।" तब घरवालों ने मन्दिर में जाकर देखा तो उनके छक्के छूट गए।

श्रीरामकृष्ण कहते हैं – "गुरुवाक्य में विश्वास करना चाहिए। गुरु ही सच्चिदानन्द, सच्चिदानन्द ही गुरु हैं; उनकी बात पर विश्वास करने से, बालक की तरह विश्वास करने से, ईश्वरप्राप्ति होती है। बालक का क्या ही विश्वास है! माँ ने कहा, 'वह तेरा भाई लगता है,' तत्काल मान लिया, 'वह मेरा भाई है।' एकदम पूरा पक्का विश्वास। ऐसा भी हो सकता है कि वह लड़का ब्राह्मण के घर का है, और वह 'भाई' सम्भव है कि किसी दूसरी जाति का हो। माँ ने कहा – उस कमरे में 'जूजू' है। बस, पक्का जान लिया, उस कमरे में 'जूजू' है। यही बालक का विश्वास है; गुरुवाक्य में इसी प्रकार विश्वास चाहिए। सयानी बुद्धि, हिसाबी बुद्धि, विचार बुद्धि करने से ईश्वर को प्राप्त नहीं किया जा सकता। विश्वास और सरलता होनी चाहिए, कपटी होने से न होगा। सरल के लिए वे बहुत सहज हैं। कपटी से वे बहुत दूर हैं।

"परन्तु बालक जिस प्रकार माँ को न देखने से बेचैन हो जाता है, लड्डू मिठाई हाथ पर लेकर चाहे भुलाने की चेष्टा करो परन्तु वह कुछ भी नहीं चाहता, किसी से नहीं भूलता और कहता है, 'नहीं, मैं माँ के ही पास जाऊँगा,' इसी प्रकार ईश्वर के लिए व्याकुलता चाहिए। अहा! कैसी स्थिति! – बालक जिस प्रकार 'माँ माँ' कहकर पागल हो जाता है, किसी भी तरह नहीं भूलता! जिसे संसार के ये सब सुखभोग फीके लगते हैं, जिसे अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगता, वही हृदय से 'माँ माँ' कहकर कातर होता है। उसी के लिए माँ को फिर सभी कामकाज छोड़कर दौड़ आना पड़ता है।

❖ (क्रमश:) ❖

स्वामी विवेकानन्द का राजस्थान-प्रवास (१)

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९३ ई. में अमेरिका के शिकागो नगर में आयोजित सर्व-धर्म-महासभा में पहुँचकर अपना ऐतिहासिक व्याख्यान देने के पूर्व स्वामी विवेकानन्द ने एक अकिंचन परिव्राजक के रूप में उत्तरी-पश्चिमी भारत का व्यापक भ्रमण किया था। इस लेखमाला में प्रस्तुत है – विविध स्रोतों से संकलित तथा कुछ नवीन तथ्यों के संबलित उनके राजस्थान-भ्रमण तथा वहाँ के लोगों से मेल-जोल का रोचक विवरण। – सं.)

स्वामीजी के भ्रमण का उद्देश्य

स्वामी विवेकानन्द के धरती पर अवतरण तथा संचरण के विषय में अपने उद्‌गार व्यक्त करते हुए हैं उनकी अमेरिकी शिष्या भगिनी क्रिस्टिन ने लिखा है – "कभी-कभी समय के दीर्घ अन्तराल के बाद एक ऐसा व्यक्ति हमारे भूमण्डल पर आ पहुँचता है, जो नि:सन्दिग्ध रूप से किसी अन्य लोक से आया हुआ एक पर्यटक होता है; जो उस सुदूरवर्ती क्षेत्र की महिमा, शक्ति तथा दीप्ति का कुछ अंश इस दुखपूर्ण संसार में लाता है। इस मर्त्यलोक का न होकर भी वह मनुष्यों के बीच विचरता है। वह मानो एक तीर्थयात्री है, एक अजनबी – जो केवल एक रात ही यहाँ ठहरता है। वह अपने आसपास के लोगों के जीवन से स्वयं को सम्बद्ध पाता है; उनके हर्ष-विषाद का भागीदार बनता है; उनके साथ सुखी और दुखी भी होता है; परन्तु इन सब के बीच वह यह कभी नहीं भूलता कि वह कौन है; कहाँ से आया है और उसके यहाँ आने का उद्देश्य क्या है! वह कभी अपने दिव्यत्व को विस्मृत नहीं करता। सदैव स्मरण रखता है कि वह महान्, तेजोमय तथा महा-महिमामय आत्मा है। ... धन्य है वह देश, जिसने उसे जन्म दिया! धन्य हैं वे लोग, जो उस समय पृथ्वी पर उपस्थित थे! और त्रिवार धन्य हैं वे कुछ लोग, जिन्हें उसके चरणों में बैठने का सौभाग्य मिला!"

स्वामीजी ने अपनी युवावस्था में ही एक परिव्राजक के रूप में अनेक वर्षों तक भारत के उत्तरी, पश्चिमी तथा दक्षिणी अंचल का भ्रमण किया था। उस समय अनेक स्थलों को उनका चरण-रज पाकर धन्य होने का सौभाग्य मिला था और अनेक लोग उनके सम्पर्क में आकर कृतार्थ हुए। उन्होंने अपने बहुमूल्य अल्पकालिक जीवन का इतना महत्त्वपूर्ण भाग इस प्रकार भ्रमण करने में क्यों बिताया?

भगवान श्रीरामकृष्ण का कहना था कि मनुष्य को यदि आत्महत्या करनी हो, तो उसके लिए एक नहरनी ही काफी है, पर दूसरों को मारने के लिये उसे ढाल-तलवार आदि से सुसज्जित होना पड़ता है। मनुष्य के अपने आत्मबोध के लिए उसे थोड़ा-सा ज्ञान ही काफी है, पर जिन्हें जगद्‌गुरु अथवा युगाचार्य की भूमिका सम्पन्न करनी हो, विश्व में ज्ञानालोक का विस्तार करना हो, विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति लानी हो और समाज को अभिनव पथ दिखाना हो, तो उसके लिये सभी विषयों का और विशेषकर समकालीन सभ्यता-संस्कृति का प्रत्यक्ष एवं यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना परम आवश्यक है।

स्वामी विवेकानन्द वर्तमान विश्व को एक अभिनव दिशा देने हेतु अवतीर्ण हुए थे, अत: उनके लिए सभी विषयों का सर्वांगीण ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास सहज-स्वाभाविक था। सर्वप्रथम उन्होंने अपने विद्यार्थी जीवन में कॉलेज की शिक्षा पाते समय अंग्रेजी एवं संस्कृत भाषा में उपलब्ध विश्व के सम्पूर्ण ज्ञान को आत्मसात किया। तत्पश्चात् भगवान श्रीरामकृष्ण के चरणों में बैठकर भारत की सनातन आध्यात्मिक परम्परा के अनुसार साधना करके उन्होंने निर्विकल्प समाधि के द्वारा ब्रह्म-तत्त्व की उपलब्धि की और अन्त में अपने देश की सभ्यता-संस्कृति तथा सामाजिक जीवन का प्रत्यक्ष अवलोकन करके उनका सटीक मूल्यांकन करने हेतु परिव्राजक के रूप में उत्तर-पश्चिमी तथा दक्षिण भारत का सुदीर्घ भ्रमण किया।

मठ-स्थापन तथा प्रारम्भिक यात्राएँ

१८८६ ई. के अगस्त माह में अपने गुरुदेव भगवान श्रीरामकृष्ण देव के लीला-संवरण के उपरान्त उनके शिष्यगण एकत्र होकर कलकत्ते के वराहनगर में स्थित एक जीर्ण-शीर्ण मकान में रहने लगे। १८८८ ई. के प्रारम्भ तक स्वामीजी ज्यादा बाहर नहीं गये। १८८७ ई. में स्वास्थ्य-लाभ के लिए वैद्यनाथ-धाम तथा कई बार सिमुलतला गये थे। १८८८ ई. के अगस्त में वे अयोध्या होते हुए वृन्दावन गये थे। १८८९ ई. में वे श्रीरामकृष्ण के जन्मस्थान कामारपुकुर गये थे।

बाद में उनका परिव्राजक-जीवन के प्रति आकर्षण तीव्रतर होता गया और १८९१ ई. के प्रारम्भ से लगभग दो वर्षों से

भी अधिक काल तक १८९३ ई. की मई में अमेरिका के लिए प्रस्थान करने के पूर्व तक स्वामीजी ने निरन्तर भ्रमण किया था। इस दौरान उनका विभिन्न प्रान्तों के असंख्य लोगों के साथ सम्पर्क हुआ – जिनमें सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ, समाज-सुधारक, वेद-वेदान्त के विद्वान्, सुविख्यात गायक-वादक, धर्माचार्य, राजा-महाराजा भी थे, इन दिनों कभी वे अछूत की कुटिया में निवास करते, तो कभी किसी राजा के महल में और इस प्रकार वे हर प्रकार के अनुभव एकत्र कर रहे थे। स्वामीजी के साथ चर्चा करके, विचारों के आदान-प्रदान से, अनेक लोगों के मन में वर्षों से बद्धमूल अन्धविश्वासों को धक्का लगा और उनके जीवन में आमूल परिवर्तन आया। इस दौरान अनेक रोचक तथा प्रेरक घटनाएँ हुईं। इन समस्त घटनाओं तथा चर्चाओं का यदि यथावत् विवरण मिल पाता, तो उससे अनेक खण्डों का एक अभूतपूर्व ग्रन्थ तैयार हो जाता। परन्तु दुर्भाग्यवश स्वामीजी के जीवन के इस काल की सुविस्तृत जानकारी हमें नहीं मिल पाती। इस प्रसंग में स्वामीजी के सुप्रसिद्ध जीवनीकार श्री सत्येन्द्रनाथ मजूमदार लिखते हैं – "उनके भारत-भ्रमण सम्बन्धी कई बातें हमें ज्ञात नहीं हैं, क्योंकि उन्होंने रोजाना कोई डायरी नहीं लिखी थी। बाद में यत्र-तत्र उनकी कोई बात सुनकर अथवा जिन व्यक्तियों से उनकी भेंट हुई थी, उनसे कुछ घटनाएँ सुनकर, जहाँ तक सम्भव हो सका है उन्हें लिपिबद्ध कर लिया गया है, फलत: कहीं-कहीं भूल-भ्रान्ति रह जाना अनिवार्य है, प्रत्येक परवर्ती संस्करण में मैंने इस भूलों को सुधारने का यथासाध्य प्रयास किया है।"[१] उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों स्वामीजी के पश्चिमी भारत में भ्रमण का सविस्तार विवरण नहीं मिलता।

प्रश्न यह भी उठता है कि स्वामीजी ने अपने परिव्राजक-जीवन का इतना सुदीर्घ अंश पश्चिमी भारत में क्यों बिताया? क्यों उन्होंने इस अंचल को इतना महत्त्व दिया?

विश्व के विभिन्न स्थानों का भ्रमण न कर, अपने ही स्थान में पूरा जीवन बिताकर व्यक्ति कूप-मण्डूक हो जाता है और आत्ममुग्ध होकर सोचता है कि मेरा सब कुछ अच्छा-उत्तम तथा श्रेष्ठ है, जबकि अन्य स्थान के लोगों के आचार-विचार निकृष्ट हैं। श्री शचीन्द्रनाथ बसु के साथ स्वामीजी के एक वार्तालाप के विवरण से इस विषय में एक नया आलोक प्राप्त होता है। उन्होंने स्वामीजी के साथ अपने वार्तालाप का कुछ अंश अपने एक पत्र में दिया है। वे लिखते हैं – "अगले दिन (७ नवम्बर, १८९७ को) मैंने जाकर देखा कि स्वामीजी बैठे हुए थे। ... कह रहे थे – बंगाल में जैसी सब्जियाँ बनती हैं, वैसी अन्यत्र कहीं भी नहीं हैं; परन्तु हाँ, उत्तर-पश्चिम – **राजपुताना** में भोजन की अच्छी व्यवस्था है।

"मैं – महाराज, वे लोग भी क्या खाना जानते है? हर सब्जी में खटाई डालते हैं।

"स्वामीजी – तुम बच्चों के जैसी बातें कर रहे हो। दो-चार लोगों को लेकर ही क्या तुम पूरी जाति के विषय में निष्कर्ष पर पहुँच जाओगे? सभ्यता तो उन्हीं लोगों के देश में थी – बंगाल में क्या वह किसी काल में थी? उस अंचल के बड़े लोगों के घर में खाओ, तो तुम्हारा भ्रम दूर हो जायेगा। ... और तुम्हारा पुलाव भी क्या है? बहुत पहले ही 'पाक-राजेश्वर' ग्रन्थ में पलान्न का उल्लेख मिलता है; मुसलमानों ने हमारी नकल की है। अकबर के आइन-ए-अकबरी में सविस्तार वर्णन है कि हिन्दुओं का पलान्न आदि किस प्रकार पकाया जाता है और बंगाल में सभ्यता ही भला कब हुई? मैं तुम लोगों से सर्वदा कहता हूँ – कन्याकुमारी से अल्मोड़ा तक यदि एक सीधी रेखा खींची जाय, तो इसका पूर्वी भाग बिल्कुल अनार्य है, असभ्य है, रंग भी काले भूतों जैसा, फिर वेद-विरोधी, परदा प्रथा, विधावाओं को जलाना आदि अनार्य प्रथाएँ, कुलगुरु ...। और पश्चिम की ओर देखो तो सभ्य, आर्य, Manly (पौरुषयुक्त) – कैसे आश्चर्य की बात है! ... पश्चिमी भाग के पुरुष सब सुन्दर, स्त्रियाँ सब रूपवती – गाँव सब स्वच्छता के नमूने, बड़े स्वास्थ्यकर तथा समृद्ध हैं। धर्म भी देखो तो बंगाल में कुछ नहीं हैं।"[२]

स्वामीजी का तात्पर्य यह था कि पश्चिमी भारत में आर्य संस्कृति तथा वैदिक धर्म अब भी सुप्रतिष्ठित तथा जीवन्त है, जबकि पूर्वी भारत में वह अपनी जड़ें नहीं जमा सका है। स्वामीजी के जीवन-काल में भी आसाम-बंगाल तथा पूर्वी क्षेत्र में पतनशील बौद्धधर्म के प्रभाव से तंत्र-मंत्र तथा वामाचार का काफी प्रभाव था और सनातन वैदिक परम्परा लुप्त हो चुकी थी। अत: बची-खुची आर्य-परम्परा को देखना-समझना भी स्वामीजी के उक्त अंचल में भ्रमण करने का एक कारण था।

स्वामीजी के राजस्थान-प्रवास का काफी विवरण प्राप्त होता है, परन्तु उसमें भी अनेक स्थानों पर पूरी जानकारी का अभाव है। इधर पिछले ५० वर्षों के दौरान इससे सम्बन्धित बहुत-सी सामग्री प्रकाश में आयी है, जिनमें से कुछ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्राप्त होती है और कुछ बातें हमें विभिन्न ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरी हुई मिल जाती है। यहाँ पर हम अब तक जितनी भी सामग्री उपलब्ध हो सकी है तथा जो पूर्व से ही उपलब्ध है, उन सबके आधार पर स्वामीजी के इस भ्रमण का एक कालानुक्रमिक खाका प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे।

एकाकी भ्रमण की गाथा

१८९१ ई. के प्रारम्भ से उन्होंने अपने गुरुभाइयों का संग पूर्ण रूप से त्याग दिया। महानगरी दिल्ली में यह विच्छेद

१. विवेकानन्द चरित, नागपुर, नवीन संस्करण (२००१), पृ. ८६

२. स्मृतिर आलोय स्वामीजी (बंगला), प्रथम संस्करण, पृ. १८५

हुआ। इसके बाद अमेरिका के लिए प्रस्थान करने के पूर्व तक कोई भी उनके भ्रमण का साथी नहीं हुआ। वैसे इस भ्रमण के दौरान कोई-कोई गुरुभाई उन्हें ढूँढ़ निकालते थे, या फिर उनके साथ अप्रत्याशित रूप से ही भेंट हो जाती थी, परन्तु हर बार वे उन्हें विशेष रूप से समझा-बुझाकर अलग भेज देते। और फिर अपना नाम आदि बदल लेते, अत: सहसा उन्हें खोज निकालना सहज नहीं था।

स्वामीजी की पुरानी बँगला जीवनी (१/१३८-३९) में प्रमथनाथ बसु लिखते हैं – "स्वामीजी के परिव्राजक-जीवन का इतिहास बड़ा अद्भुत है। वे यथासम्भव अपनी अतुल विद्या-बुद्धि को गोपनीय रखकर एक साधारण साधु के समान भ्रमण करते थे। यहाँ तक कि उन्हें देख या उनके साथ वार्तालाप करने के बाद भी व्यक्ति यह नहीं समझ पाता कि वे अंग्रेजी का एक भी अक्षर जानते हैं। वे बारम्बार प्रतिज्ञा करते, 'किसी से भिक्षा नहीं माँगूँगा, स्वयं आ जाने पर ही ग्रहण करूँगा।' इसके फलस्वरूप बीच-बीच में एक-एक कर पाँच दिनों तक उन्हें उपासी रहना पड़ा था – यह बात उनके अपने मुख से ही सुनने को मिली है। कितने ही दिन वे मार्ग के पास स्थित भग्न देवालय या धर्मशाला अथवा जंगल-झाड़ियों तथा पर्वत-गुफाओं में बिता देते। फिर ऐसे दिन भी गये, जिस दिन सिर रखने को स्थान नहीं मिला और उन्हें खुले आकाश के नीचे वर्षा तथा मैदान में पड़ रही ओस या प्रचण्ड धूप से अग्निवत् तप्त बालुकाराशि पर समय बिताना पड़ा। उनके साथ पहनने को गेरुआ धोती और गेरुआ बनियान, हाथ में दण्ड तथा कमण्डलु और सम्बल के रूप में गीता की एक प्रति रहती। इसी प्रकार वे राजोपम दीप्त विशाल-नयन वाले, अनुपम-कान्ति-वीर-वपु संन्यासी भिक्षान्न ग्रहण करते और तीर्थ-भ्रमण हेतु 'नारायण हरि' कहते हुए द्वार-द्वार विचरण कर रहे थे।"

अमेरिका में भी एक बार 'मेरा जीवन तथा ध्येय' विषय पर बोलते हुए स्वामीजी ने स्वयं भी अपनी परिव्रज्या के दिनों की कुछ अनुभव सुनाते हुए कहा था – "हम लोगों ने सारे भारत का भ्रमण किया और यही कोशिश की कि हमारे विचार और आदर्श को एक निश्चित रूप मिल जाय। दस वर्ष बीत गये – प्रकाश की किरण न दिखी। हजारों बार निराशा आयी। पर इन सबके बीच आशा की एक किरण सर्वदा बनी रही, और वह था हम लोगों का उत्कट पारस्परिक सहयोग, हमारा आपसी प्रेम। ... और उस मुसीबत के दिनों में वही एक बात हम सबमें थी, और उसी के बल पर हमने हिमालय से कन्याकुमारी तथा सिन्धु से ब्रह्मपुत्र तक भ्रमण किया। ... **दस साल** बीत गये, पर प्रकाश न मिला। इधर स्वास्थ्य दिन-पर-दिन क्षीण होता चला। शरीर पर इनका असर हुए बिना नहीं रह सकता। कभी रात के नौ बजे एक बार खा लिया, तो कभी सबेरे आठ बजे एक बार ही खाकर रह गये, दूसरी बार दो दिन बाद खाया, तो तीसरी बार तीन दिन बाद – और हर बार नितान्त रूखा-सूखा, शुष्क, नीरस भोजन! प्राय: पैदल ही चलते, बर्फीली चोटियों पर चढ़ते, कभी-कभी तो दस-दस मील पहाड़ पर चढ़ते ही जाते – केवल इसलिए कि एक बार का भोजन मिल जाए। बतलाओ भला, भिखारी को कौन अपना अच्छा भोजन देता है? फिर सूखी रोटी ही भारत में उनका भोजन है और कई बार तो वे सूखी रोटियाँ बीस-बीस, तीस-तीस दिन के लिए इकट्ठी करके रख ली जाती हैं और जब वे ईंट की तरह कड़ी हो जाती हैं, तब उनसे षड्‌रस व्यंजन का उपभोग सम्पन्न होता है! एक बार का भोजन पाने के लिए मुझे द्वार-द्वार भीख माँगते फिरना पड़ता था। और फिर रोटी ऐसी कड़ी कि खाते-खाते मुँह से लहू बहने लगता। सच कहूँ, वैसी रोटी से तुम अपने दाँत तोड़ सकते हो। मैं तो रोटी को एक पात्र में रख लेता और उसमें नदी का पानी उँड़ेल देता था। इस तरह महीनों बिताने पड़े, निश्चय ही इन सबका प्रभाव स्वास्थ्य पर पड़ रहा था। (विवेकानन्द साहित्य, १०/१२-१३)

अपने परिव्राजक-जीवन की बातें वे ज्यादा नहीं बताते थे। कभी-कभी बातचीत के क्रम में दो-एक घटनाएँ व्यक्त हो जाती थीं। एक बार एक शिष्य को उन्होंने अन्यमनस्क भाव से कहा था, "ओह, कितने कष्टों से दिन बीते हैं! एक बार **लगातार तीन दिनों तक भोजन नहीं मिलने से मार्ग में मूर्छित होकर पड़ा था**; जब होश आया, तो देखा कि सारा शरीर वर्षा के जल से भीग गया है। भीग जाने से शरीर थोड़ा स्वस्थ लग रहा था। तब उठकर धीरे-धीरे पैदल चला और एक आश्रम में पहुँचकर कुछ खाया, तब प्राण बचे।"

स्वामीजी के परिव्राजक अवस्था के दिनों के कष्ट के विषय में उनके कनिष्ट भ्राता महेन्द्रनाथ दत्त ने जो कुछ उन्हीं के मुख से सुना था, उसे निम्नलिखित शब्दों में लिपिबद्ध किया है – "लन्दन-निवास के समय एक दिन ई. टी. स्टर्डी को अपने परिव्राजक अवस्था की बातें बताते हुए स्वामीजी ने कहा था – उन दिनों उनके मन का भाव अत्यन्त कष्टदायक हो गया था। जीवन्त मृत्यु किसे कहते हैं, इसका वे प्रति क्षण अनुभव करते थे। अनाहार तो था ही, सिर रखने को स्थान भी न था और जगह-जगह भिक्षा करते हुए वे पागल के समान घूमा करते थे। ... इन सबके साथ पीछे पुलिस पड़ी रहती थी। इधर गाँव-गाँव में घूमकर उन्होंने देखा था कि सभी लोग अन्न के अभाव में हाहाकार कर रहे हैं। वे लोग कितने दु:ख-कष्ट में दिन बिता रहे हैं! स्वयं अपने को भी भगवान नही मिले और दूसरो के लिए भी कुछ नहीं कर सका – आदि विभिन्न बाते वे कहने लगे।" (बँगला ग्रन्थ विश्वपथिक विवेकानन्द, पृ. १९४-१९५)

राजस्थान के प्रवेश-द्वार – दिल्ली की ओर

अपने परमप्रिय गुरुभाई स्वामी अखण्डानन्द जी के साथ बिहार, उत्तर-प्रदेश तथा हिमालय के कुछ तीर्थों का भ्रमण करने के उपरान्त स्वामीजी ऋषीकेश में बीमार पड़ गये और पहले वहाँ तथा उसके बाद मेरठ में उनके अनेक गुरुभाई एकत्र हुए। वहाँ गुरुभाइयों के साथ काफी काल बिताने के बाद स्वामीजी ने सबसे विदा ली और अब से एकाकी भ्रमण का संकल्प लेकर दिल्ली की ओर प्रस्थान किया।

हिन्दू-मुसलमानों की पुरानी राजधानी दिल्ली अतीत काल की अनेक स्मृतियों को अपने वक्ष में सँजोये आज भी विश्व के हजारों पर्यटकों को आकृष्ट कर रही है। यूरोपीय महाद्वीप में रोम नगरी के समान ही भारतीय उप-महाद्वीप में दिल्ली भी सभ्यता की खान मानी जाती है। नगर के विगत गौरव का स्मरण करके स्वामीजी का मन भावपूर्ण हो उठा। दिल्ली में सेठ श्यामल दास ने ससम्मान उन्हें अपने घर में रखा। कुछ दिनों बाद उनका परिचय वहाँ के सुप्रसिद्ध डॉक्टर हेमचन्द्र सेन के साथ हुआ। स्वामीजी के साथ 'धर्म'-विषयक कई प्रश्नों पर डॉक्टर साहब का काफी तर्क हुआ और अन्ततः वे उनकी अगाध विद्वत्ता तथा बुद्धिमत्ता पर अतीव मुग्ध हुए।

गुरुभ्रातागण मेरठ में उन्हें विदाई देने के बाद भी अधिक दिन वहाँ ठहर नहीं सके। दस दिनों बाद गुरुभ्राताओं ने मेरठ से दिल्ली आकर स्वामीजी को सहज ही ढूँढ़ लिया। पर उस समय उनके मन में निर्जन भ्रमण की इच्छा अति बलवती हो चुकी थी। दिल्ली में कुछ दिनों के एकाकी वास से उन्हें बड़ा सुख मिला था। उन्हें अपने अन्तःकरण में ऐसा बोध हो रहा था कि कोई उच्च शक्ति उन्हें निःसंग विचरण के लिए खींच रही है, मानो कोई आदेश दे रहा था – 'ऐसा-ऐसा करो।

भगवान श्रीरामकृष्ण ने स्वामीजी को जिस महान् कार्य का भार सौंपा था, उसे पूरा करने का समय आ पहुँचा है या नहीं यह जानते तथा भगवान का प्रत्यक्ष आदेश पाने में, उनके साथ भ्रमण करनेवाले गुरुभाइयों का संग एक बहुत बड़ी बाधा है, यह देखकर उन्होंने सोचा, "मुझे गुरुभाइयों की माया छोड़नी होगी, अकेले भ्रमण करना होगा, नहीं तो **इन लोगों के बीमार आदि पड़ने पर एकाकी चित्त में इनके लिए बड़ी चंचलता आती है – यह एक महाविघ्न है।** तपस्या के मार्ग की सारी बाधाओं को दूर करना होगा।" उसी आदेश को पाने के लिए उनके मन-प्राण सदैव उत्कंठित रहा करते थे। विभिन्न प्रदेशों में विभिन्न अवस्थाओं के बीच भ्रमण करते हुए भारतीय जीवन की अनन्त समस्याओं के समाधान का प्रयास ही ईश्वरीय आज्ञा की प्राप्ति के लिए तपस्या मानकर, उन्होंने गुप्त रूप से अकेले भारत के नाना स्थानों का पर्यटन करने का संकल्प लिया था।

अतः गुरुभाइयों के साथ भेंट होने से स्वामीजी के हृदय में आनन्द तो हुआ, पर अपने कार्य में उनके बाधक होने की आशंका से वे कृत्रिम कोप का आश्रय लेकर उनसे दृढ़ स्वर में बोले, "देखो भाई, मैंने तुम लोगों को पहले ही कहा है कि मैं अकेला रहना चाहता हूँ, मैंने तुम लोगों से कह रखा है कि मेरा पीछा मत करो। वही बात फिर कहता हूँ – मैं यह नहीं चाहता हूँ कि कोई मेरे साथ रहे। मैं अभी दिल्ली छोड़कर जा रहा हूँ। कोई मेरे पीछे चलने की चेष्टा न करे, कोई मुझे ढूँढ़ निकालने के लिए प्रयास न करे। मैं चाहता हूँ कि तुम लोग मेरी बातों का पालन करो। मैं सारे पुराने सम्बन्धों को तोड़ना चाहता हूँ। मैं अपनी इच्छा से भ्रमण करूँगा – पहाड़, जंगल, मरुभूमि अथवा नगर में – चाहे जो हो, जो मुसीबत आये। मैं चला। मेरी इच्छा है कि हर कोई अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार साधना करने में लग जाय।"

गुरुभ्रातागण जानते थे कि स्वामीजी ने जिस उद्देश्य की पूर्ति हेतु जन्म लिया है, उसे पूरा करने को उनका हृदय व्यग्र हो उठा है। वे लोग यह भी जानते थे कि स्वामीजी उनके गुरुदेव श्रीरामकृष्ण के मार्गदर्शन में ही चल रहे हैं और जगदम्बा की इच्छा से ही वे निःसंग होने को आकुल हैं। अतः भारी हृदय से उन लोगों ने स्वामीजी से विदा ली। एक-एककर वे वहाँ से चल पड़े। स्वामी सारदानन्द तथा कृपानन्द इटावा की ओर, ब्रह्मानन्द तथा तुरीयानन्द पंजाब की ओर चले गये। और स्वामी अखण्डानन्द ने वृन्दावन की ओर रवाना होने के पहले स्वामीजी से थोड़ी बहस भी की।

स्वामी अखण्डानन्द जी अपनी बँगला 'स्मृतिकथा' (तृतीय सं. पृ. ६०) में लिखते हैं – "स्वामीजी के दिल्ली के लिए प्रस्थान करते समय मैंने कहा था, 'तुम्हारे ही अनुरोध पर मैं अपना मध्य-एशिया-दर्शन स्थगित करके वराहनगर मठ लौट आया था और अब तुम्हीं मुझे त्यागकर चले जा रहे हो!' स्वामीजी बोले, 'गुरुभाइयों के साथ रहने से तपस्या में काफी विघ्न पड़ती है। देखो न, तुम्हारी बीमारी के कारण मैं टिहरी (हिमालय) में तपस्या नही कर सका। गुरुभाइयों की माया काटे बिना मेरा साधन-भजन नहीं होगा। जब भी मैं सोचता हूँ कि तपस्या करूँगा, तभी ठाकुर एक बाधा उत्पन्न कर देते हैं। अब मैं अकेले निकलूँगा। जहाँ भी रहूँगा, किसी को सूचना नहीं दूँगा।' उत्तर में मैंने कहा – 'तुम यदि पाताल भी चले जाओ, तो वहाँ से यदि मैं तुम्हें खोजकर निकाल नहीं सका, तो मेरा नाम गंगाधर नहीं।' "

❖ (क्रमशः) ❖

(अगले अंक में स्वामीजी का राजस्थान-प्रवेश तथा अलवर में सात सप्ताह निवास। रामसनेही तथा बूढ़ी-माँ का आतिथ्य-ग्रहण और अनेक युवकों का प्रभावित होकर उनका अनुगामी बनना।)

स्वामी कल्याणदेव जी – स्वामी विवेकानन्द से मिले हुए अन्तिम व्यक्ति की महासमाधि

विगत १४ जुलाई (२००४ ई.) को १२९ वर्षीय 'तीन शताब्दियों के द्रष्टा' राष्ट्रसन्त वीतराग संन्यासी स्वामी कल्याण देव जी महाराज लाखों लोगों को शोकमग्न करते हुए चिर-समाधि में विलीन हो गये। उनका जन्म मुजफ्फरनगर जिले के मुण्डभर गाँव के निवासी फेरूदत्त की धर्मपत्नी भोई देवी की कोख से तीसरे पुत्र के रूप में अपने ननिहाल बागपत जिले के कोताना गाँव में २१ जून, १८७६ ई. के दिन हुआ था। नाम हुआ कालूराम और बचपन मुण्डभर में बीता।

धर्म की ओर रुझान

बाल्यकाल में कालूराम को बुढ़ाना में अपनी बुआ सुरजी के यहाँ जाने का मौका मिला। उनके फूफा बुल्ला भगत वहाँ के बड़े जमींदार थे। घर में किसी बात की कोई कमी नहीं थी, पर सन्तान का अभाव उन्हें बड़ा खटकता था। इसलिए उन्होंने भगवान की भक्ति तथा सन्तों की सेवा में मन लगाया। बुल्ला भगत की साधु-सेवा की ख्याति ऐसी फैली कि उनके द्वार पर हमेशा साधु-सन्तों का जमघट लगा रहता था। उनके यहाँ प्रतिदिन सुबह-शाम रामकथा तथा भजन-कीर्तन होता और उसके बाद प्रसाद-वितरण भी होता।

यह सब देख कालूराम को बड़ा आनन्द होता। वह बड़े सबेरे ही नहा-धोकर तैयार हो जाता और अपने फूफाजी के पास ही काठ के तख्त पर बैठकर ध्यानपूर्वक कथा सुनता। बचपन में सुने गये रामायण के प्रसंगों की कालूराम के हृदय में गहरी छाप पड़ी और उसमें निरूपित चरित्र ही उसके लिए आदर्श बन गये। एक दिन वे अपने फूफा का घर छोड़कर साधु-सन्तों के साथ निकल गये। उस समय उनके शरीर पर एक लँगोटी तथा एक सूती चादर के सिवा और कुछ न था।

खाली हाथ और नंगे पैर भिक्षाटन करते और मार्ग पूछते हुए कालूराम अयोध्या पहुँच गये। वहाँ उनकी भेंट स्वामी रामदास से हुई, जिनसे उन्होंने अक्षर-बोध सीखा। अब वे रामायण का हिन्दी भाषान्तर स्वयं पढ़ सकते थे। अयोध्या में ही उन्हें हरिद्वार-तीर्थ के बारे में जानकारी मिली।

कुछ दिन अयोध्या में बिताने के बाद कालूराम ने हरिद्वार की राह ली। हरिद्वार पहुँचने के बाद वे वहाँ के कई आश्रमों में आते-जाते रहे। वहाँ वे कथा-कीर्तन सुनते, साधु-महात्माओं की संगति करते और भूख लगने पर भिक्षा माँग कर खा लेते। इन्हीं दिनों उन्होंने खेतड़ी जाकर स्वामी विवेकानन्द जी के दर्शन किये तथा उनसे कुछ शिक्षा भी पायी।

खेतड़ी से वापस हरिद्वार लौटने के बाद उनके मन में किसी गुरु से दीक्षा लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हुई। अपने लिए उपयुक्त गुरु की खोज में कालूराम ऋषीकेश में स्थित मुनि की रेती पहुँचे, जहाँ उनकी भेंट स्वामी पूर्णानन्द जी महाराज से हुई। सरल तथा निर्मल चित्त वाले पूर्णानन्द जी ने कालूराम की प्रार्थना स्वीकार कर ली। कालूराम की सेवा-परायणता देखकर उन्होंने १९०० ई. में उन्हें संन्यास के व्रत में दीक्षित करके उन्हें स्वामी कल्याण देव नाम दे दिया। इसके बाद गुरुदेव के आदेश पर उत्तराखण्ड में ही रहकर घोर तपस्या की और तदुपरान्त वे विविध प्रकार के लोकोपकारी कार्यों में जुट गये। उन्हीं दिनों आरम्भ किया गया उनका यह 'सेवा-यज्ञ' उनके सुदीर्घ जीवन-काल के लगभग सौ वर्षों तक अबाध गति से चलता रहा।

स्वामी विवेकानन्द जी से भेंट

खेतड़ी में स्वामी विवेकानन्द जी से भेंट उनके जीवन की एक युगान्तर-कारी घटना थी। १८९७ ई. के नवम्बर माह में उत्तरार्ध में १० दिनों तक स्वामीजी ने देहरादून में निवास किया था। वहाँ से दिल्ली, अलवर होते हुए जयपुर पहुँचकर उन्होंने वहाँ के खेतड़ी-हाउस में निवास किया। जयपुर से ९ दिसम्बर को घोड़े-गाड़ियों आदि में सवार होकर वे कुछ गुरुभाइयों तथा शिष्यों के साथ १२ दिसम्बर को राज-अतिथि के रूप में खेतड़ी पहुँचे। वहाँ महाराजा के 'सुख-महल' नामक उद्यान-भवन में उनके निवास की व्यवस्था हुई थी और वहीं पर वे तीन सप्ताह ठहरे।

स्वामी कल्याणदेव जी उन दिनों एक २० वर्षीय युवक कालूराम के रूप में सम्भवतः हरिद्वार में निवास करते थे। उन्होंने जब सुना कि विश्वविश्रुत स्वामीजी देहरादून से दिल्ली, अलवर तथा जयपुर होते हुए खेतड़ी जा रहे हैं, तो उनके मन में स्वामीजी से मिलने की विशेष उत्कण्ठा हुई। अतः वे जयपुर की ओर चल दिये। वहाँ पहुँचकर 'खेतड़ी-हाउस' से उन्हें सूचना मिली कि स्वामीजी खेतड़ी के लिए प्रस्थान कर चुके हैं और वहीं से जोधपुर, अजमेर आदि होते हुए अन्य

मार्ग से वापस कलकत्ते लौटेंगे। उन दिनों खेतड़ी जाने के अधिक साधन आदि उपलब्ध न थे, अत: युवक कालूराम पैदल ही वहाँ के लिए रवाना हुआ।

खेतड़ी के एक उद्यान-भवन में उसकी स्वामी विवेकानन्द जी के साथ भेंट हुई। 'अमर-उजाला' दैनिक के १४ अक्तूबर २००३ ई. के अंक में प्रकाशित एक साक्षात्कार में १२७ वर्षीय स्वामी कल्याणदेव जी से पूछा गया था – "गाँव-गाँव में जाकर समाज-सेवा करने की प्रेरणा आपको कहाँ से मिली?" उन्होंने उत्तर दिया – "सन् १८९३ (?) में खेतड़ी (राजस्थान) में स्वामी विवेकानन्द जी से भेंट हुई थी। उन्होंने कहा था कि भगवान के दर्शन करने हैं, तो गरीब की झोपड़ी में जाना और भगवान को पाना है तो गरीबों, असहाय लोगों, दीन-दुखियों की सेवा करना। सेवा में ही भगवान को पाने का ऐसा मंत्र मिला कि उसे कभी भूल नहीं पाया।"[१]

एक अन्य विवरण के अनुसार इस भेंट के दौरान स्वामीजी ने कालूराम से कुछ और भी बातें कही थीं। उन्होंने कहा था –

"(१) भगवान के दर्शन गरीब की झोपड़ी में होंगे।

"(२) भगवान के दो बेटे हैं – किसान और मजदूर।

"(३) जब तुम प्रात:काल उठकर घर से निकलोगे, तो तुम्हारे कानों में दो तरह की आवाजें आयेंगी – एक तो मन्दिर के घण्टे की और दूसरी तड़पते-कराहते दुखियों की आवाजें – 'हाय राम, मैं मरा'। पहले तुम कराहते हुए दीन-दुखी लोगों के पास जाओ और अपनी सामर्थ्य के अनुसार उनके दु:ख दूर करने के प्रयास करो। उसके बाद ही तुम मन्दिर में जाना।"[२] स्वामीजी की इन बातों ने ब्रह्मचारी कालूराम के मन पर अमिट छाप छोड़ी और कुछ काल बाद संन्यास लेने के उपरान्त वे अगले सौ वर्षों से भी अधिक काल तक गाँव-गाँव में पैदल घूमकर दीन-दुखियों, निर्धनों तथा किसान-मजदूरों की सेवा करते रहे।

संस्थाओं के संस्थापक

करीब सौ वर्षों के अपने सक्रिय कार्यकाल के दौरान पूरी मानवता और विशेषकर ग्रामीण-समाज के कल्याणार्थ उन्होंने पश्चिमी उत्तरप्रदेश, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, दिल्ली तथा देश के अनेक प्रान्तों में राष्ट्रीय महत्त्व की लगभग ३०० संस्थाएँ स्थापित कीं। इनमें प्रमुख हैं – तकनीकी शिक्षा-केन्द्र, आयुर्वेद मेडिकल कॉलेज, माध्यमिक विद्यालय, नवोदय विद्यालय, कन्या विद्यालय, जूनियर हाईस्कूल, प्राथमिक विद्यालय, चिकित्सालय तथा औषधालय, नेत्र चिकित्सालय, संस्कृत पाठशालाएँ, उद्योगशाला, अम्बेडकर छात्रावास, धर्मशालाएँ, मूक-बधिर तथा अन्ध विद्यालय, योग-प्रशिक्षण केन्द्र, वृद्धाश्रम, वृद्ध गायों के लिए पिंजरापोल, अनाथालय, शहीद-स्मारक और अनेक धार्मिक तथा आध्यात्मिक केन्द्र आदि।

उनके द्वारा स्थापित शिक्षण-संस्थाओं में हर जाति-धर्म के गरीब तथा अमीर बालक-बालिकाएँ शिक्षण तथा प्रशिक्षण पाते हैं। सैकड़ों संस्थाओं के संस्थापक होने के बावजूद वे उनमें कोई पदाधिकारी नहीं बने। इसके सिवा उन्होंने बाल एवं नारी-कल्याण, स्वदेशी का प्रचार, अछूतोद्धार, मद्यनिषेध, पर्यावरण-सुरक्षा, साम्प्रदायिक एकता और बाल-विवाह आदि की प्रथा को दूर करने के लिए बहुत-सा कार्य किया।

प्राचीन तीर्थों का जीर्णोद्धार

समाज-सेवा के अतिरिक्त स्वामीजी ने कई धार्मिक तथा ऐतिहासिक स्थलों का जीर्णोद्धार भी कराया था। मेरठ से ६० कि.मी. उत्तर में स्थित श्रीमद्-भागवत के प्रवक्ता परमहंस शुकदेव की स्मृतियों से जुड़े प्राचीन तीर्थ शुकताल (जिला मुजफ्फर-नगर) का उन्होंने जीर्णोद्धार कराया और वहाँ 'शुकदेव आश्रम सेवा-समिति' की स्थापना की। इसके अलावा कौरवों-पाण्डवों की राजधानी हस्तिनापुर (मेरठ जिला) और हरियाणा के भी अनेक तीर्थों का जीर्णोद्धार कराया।

दरिद्र-नारायण के पुजारी

१२७ वर्ष की आयु में भी **अहर्निशं सेवामहे** का संकल्प धारण किये वे दरिद्र-नारायण की सेवा में अपने जीवन का एक-एक पल सार्थक बनाने में जुटे रहे। उन्हें किसी रोग-शोक या चिन्ता का भय नहीं था। उनका जीवन इतना सरल-सहज था कि प्रात: ५ बजे से लेकर रात १० बजे तक उनके द्वार पर दीन-दुखी, निर्धन तथा सामान्य लोगों की भीड़ लगी रहती थी। वे लोगों के दुख-दर्द तथा समस्याओं की बातें सहानुभूति तथा ध्यानपूर्वक सुनते और उन्हें पूरा सम्मान देते हुए तत्परता सहित उनका समुचित निराकरण करते।

१९१५ ई. में वे महात्मा गाँधी से मिले; और पं. मदन मोहन मालवीय, पं. जवाहर लाल नेहरू, श्री लाल बहादुर शास्त्री, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद, डॉ. सम्पूर्णानन्द आदि विभूतियों के साथ भी उनका सम्पर्क रहा। १९८२ में उन्हें 'पद्मश्री' तथा २००० में 'पद्मभूषण' की उपाधि से अलंकृत किया गया। २००२ में उन्हें मेरठ विश्वविद्यालय द्वारा डी. लिट् की मानद उपाधि से सम्मानित किया गया। २००२ में ही तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने उनके सम्मान में प्रकाशित 'तीन सदी के युगद्रष्टा – स्वामी कल्याणदेव' शीर्षक अभिनन्दन-ग्रन्थ का लोकार्पण किया।[३]

❑❑❑

१. पू. स्वामी कल्याणदेव जी के बारे में प्राथमिक जानकारी तथा इस समाचार-पत्र की कतरन लेखक को गुरसराय (झाँसी) के श्री सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव से प्राप्त हुई।

२. शुकतीर्थ-सन्देश (त्रैमासिक), जुलाई-सितम्बर २००४ अंक, पृ. ३ (मुजफ्फरनगर के निवासी डॉ. सुधीर कुमार भारद्वाज के सौजन्य से प्राप्त)

३. मासिक 'गोधन' (दिल्ली), जनवरी (२००३) अंक के मुखपृष्ठ से।